संस्कृत-साहित्य-ग्रन्थमाला ६ वाँ पुष्प

प्रकाशक :

आदर्श साहित्य संघ

चूरू (राजस्थान)

प्रथम संस्करण : फरवरी १९६२

मूल्य : २५ रुपये

मुद्रक :

रेफिल आर्ट प्रेस,

३१, बड़तल्ला स्ट्रीट,

कलकत्ता-७

प्रस्तुत महाकाव्य के चरितनायक, भारतीय संस्कृति व अहिंसा-दर्शन के महान् उन्नेता

जनवन्द्य आचार्य श्री तुलसी

जन्म : कार्तिक शुक्ला २, वि० सं० १९७१ (लाडनूं)

प्रव्रज्या : पौष कृष्णा ५, वि० सं० १९८२ (लाडनूं)

आचार्यपद : भाद्र शुक्ला ९, वि० सं० १९९३ (गंगापुर)

आचार्य श्री तुलसी धवल समारोह के अवसर पर

श्रीतुलसी-महाकाव्यम्

(आशुकवि पं० रघुनन्दनजी शर्मा द्वारा विरचित)

परमाराध्य श्रद्धेय आचार्य श्री तुलसी गणी के
करकमलों में सभक्ति सादर भेंट

गंगाशहर
१ मार्च १९६२

हनुतमल सुराणा
चूरू *(राजस्थान)*

आभार

श्रीतुलसी-महाकाव्यम् के प्रकाशन के लिये चूरू (राजस्थान)
निवासी श्रीमान् हनुतमलजी सुराणा ने अपने स्वर्गीय
कनिष्ठ भ्राता हिम्मतमल सुराणा व वत्सराज
सुराणा की पुनीत स्मृति में आर्थिक
सहयोग देकर अपनी सांस्कृतिक व
साहित्यिक सुरुचि का परिचय
दिया है, वह अनुकरणीय
है। आदर्श साहित्य
संघ की ओर से हम
सादर आभार
प्रदर्शित करते
हैं।

जयचन्दलाल दफ्तरी
व्यवस्थापक

प्रतिपत्तये......

सुरम्य, हरी भरी, उत्तुंग गिरि-मालाओं के मध्य, प्रकृति नटी के मुख देखने के दर्पण जैसा सरोवर अपनी निःसीम शोभा व आभा लिये लहरा रहा था। उसमें अनेक नीले, पीले, उजले, लाल, हरे अरविन्द स्वर्गिक सुषमा से हुलसाये अपनी रूप-राशि बिखेर रहे थे, सुरभि-सम्पदा उड़ेल रहे थे—दोनों हाथों से। पूनम के चाँद सा दमकता, चमकता, थिरकता एक सहस्रदल उनके मध्य यों विकसित था, मानो समग्र पद्मों ने अपना अन्तःसार समर्पित कर उसे पद्म-श्री के अखण्ड साम्राज्य में अभिषिक्त किया हो। एक लम्बी अवधि से मँडराते कजरारे भौंरे ने देखा—सहस्र-दल से एक अलौकिक मधुरिमामयी सुरभि का शतमुखी निर्झर वह रहा है। वह पारखी, वह ग्रहणशील भला अपने को कैसे रोकता। निकट आया, आनन्द-विभोर हो उठा। उसकी हृत्तन्त्री के स्वर उसके नन्हें से मुखड़े से प्रशस्ति का गीत बन गुंजन के रूपमें निकल पड़े। श्री तुलसी-महाकाव्य की यही बीज-कथा है।

महाकाव्य के धीरोदात्त चरितनायक, परम श्रद्धास्पद आचार्य श्री तुलसी का जीवन वस्तुतः संयम, सेवा, साधना, श्रुत, श्रम, शम, सम आदि अनेक अध्यात्ममयी पंखुड़ियों से संवलित वह सहस्रदल है, जिसका प्रत्येक दल—पत्र एक अप्रतिम सुरभि, अद्भुत छटा, मंजुता और शुभ्रता लिये है। तेरापंथ के संघाधिनायक के रूप में उनके जीवन के यशस्वी पचीस वर्ष, जिन्हें वे परिसम्पन्न कर चुके हैं, निःसन्देह भारत के आध्यात्मिक इतिहास के वे गरिमामय पृष्ठ हैं, जिनका प्रत्येक अक्षर उस सहस्रदल का एक पावन पराग-कण है।

इस मंगलमयी ऐतिहासिक वेला पर परमाराध्य आचार्यवर के श्री चरणों में राष्ट्र के उद्बुद्धचेता मनीषी, निष्ठाशील लोकसेवी, गुणानुरागी नागरिक, जो मानवीय सृष्टि को शान्ति-सज्ज देखना चाहते हैं, जिसके लिए आचार्यवर अहर्निश कृतप्रयत्न हैं, श्रद्धा व भक्ति के कुसुम समर्पित कर रहे हैं। आशुकविरत्न पं० रघुनन्दनजी, जिनका जगद्वन्द्य आचार्यवर के जीवन के साथ एक लम्बी अवधि से अमिट आध्यात्मिक सम्बन्ध चला आ रहा है, आचार्यप्रवर द्वारा श्रमणसंघ में किये गये शतमुखी विद्या-विकास में जिनकी अप्रतिम निरवद्य सेवाएँ रही हैं, ऐसे अवसर पर कैसे मूक रहते।

वे एक जन्मजात आशुकवि हैं। कविता उनके जीवन की सहचरी है। अत्यन्त सरल, भद्र व अकृत्रिम व्यक्तित्व का धनी यह शब्द-शिल्पी एक छलांग में काव्य के गगन-चुम्बी प्रासाद के शिखर पर चढ़ने की क्षमता रखता है, उनकी बाह्य वेष-भूषा से यह कोई कल्पना नहीं कर सकता। पर उनमें कवित्व की एक अद्भुत क्षमता है, निर्व्याज प्रतिभा है, जो केवल अध्ययन, अनुशीलन व अभ्यास से नहीं आती, ये उसे पल्लवित तथा परिवर्द्धित अवश्य कर सकते हैं! पण्डितजी ने इस ऐतिहासिक अवसर पर अपने जीवन के अनुरूप एक ऐतिहासिक उपहार आचार्यवर के श्रीचरणों में अर्पित करना चाहा। यह महाकाव्य उसी की परिणति है। उस सहस्रदल पर मँडराते कजरारे भौंरे के आत्मप्रसू गुंजन जैसी पण्डितजी की यह गुनगुनाहट वास्तव में भारतीय वाङ्मय की एक अमर कृति है। रस, अलंकार, भाव, भाषा आदि सभी दृष्टियों से पण्डितजी का वैदग्ध्य इसमें स्पष्ट झलकता है। पण्डितजी ने इसमें यत्र-तत्र आधुनिक शब्दों का स्वातन्त्र्य वरत, संस्कृत, जिसे कुछ-एक लोग मृत भाषा कहते नहीं संकुचाते, को एक जीवित भाषा के रूपमें प्रस्तुत करने का स्तुत्य प्रयास किया है। जो कविता पढ़ते ही हृदयङ्गम हो जाए, जिसके भाव को अधिगत करने में अनपेक्षित आयास न करना पड़े, उसे प्रसाद-गुणयुक्त कविता कहा जाता है। पण्डितजी उसके सर्जन में सहजरूपेण सिद्धहस्त हैं। गंभीर व निगूढ़ भावों को अत्यन्त सरस पदावली में रखने की पण्डितजी में अद्भुत क्षमता है, जिसका हमें प्रस्तुत महाकाव्य में सर्वत्र दर्शन होता है।

प्रस्तुत महाकाव्य पचीस सर्गों में परिसम्पन्न हुआ है। ग्रन्थकार ने आद्य दो सर्गों में आचार्यवर के वंश एवं पूर्वपुरुषों का ऐतिहासिक विवरण प्रस्तुत करते हुए आचार्यवर का जन्म, जो जागतिक अध्यात्म-अभ्युदय की एक अभिकांक्षणीय घटना थी, का बड़े भावपूर्ण शब्दों में चित्रण किया है। ४७ वर्ष पूर्ण की उस स्वर्णिम घड़ी को उन्होंने अपने उत्कृष्ट शब्द-शिल्पित्व के कौशल द्वारा हमारे नेत्रों के समक्ष ला उपस्थित किया है।

तृतीय सर्ग ग्रन्थकार ने भारत की अध्यात्म एवं चारित्र्य-प्रधान प्राक्तन संस्कृति के वर्णन से प्रारम्भ किया है। उनकी सामर्थ्यवती लेखनी ने वर्णन-क्रम में वह सजीवना उँडेल दी है, जो सहृदय पाठक को सहसा सहस्रों वर्ष पूर्व के भावमय भारत में ले जाती है। तदनन्तर क्रमशः अहिंसा मूलक संस्कृति व जीवन-सरणि के अपकर्ष, हिंसा के रौरवीय नर्त्तन, धर्मप्ररूपण में वैपरीत्य आदि का चित्र उपस्थित कर उन्होंने एतद्युगीन आर्हत तीर्थ के संप्रवर्तक भगवान् महावीर का आविर्भाव; प्रव्रज्या, उग्र तपमय जीवन, श्रामण्य-साधना, जन-जन में अध्यात्म का अभिनव उद्योत आदि पर

सरस एवं सुन्दर शब्दों में प्रकाश डाला है। वर्णन-क्रम के मध्य, उन्होंने, भगवान् महावीर द्वारा निरूपित निगूढ़ एवं सूक्ष्म तत्त्व-दर्शन को भी अपनी मंजुतापूर्ण कविता के सूत्र में इस निपुणता से पिरोया है कि दर्शन की तथाकथित नीरसता में स्वाभाविक सरसता व्याप गई है।

चतुर्थ सर्ग के आद्य भाग में ग्रन्थकार ने भगवान् महावीर की पश्चाद्वर्तिनी श्रामणिक परंपरा पर संक्षेप में प्रकाश डाला है। तदनन्तर कालक्रमवश प्रसृत धार्मिक संस्कृति के अपकर्ष का ब्यौरा देते हुए धर्म के नाम पर चलते अधार्मिक आचारों का एक सजीव चित्र उन्होंने खींचा है। तदनन्तर उन्नीसवीं शती के महान् सन्त, अध्यात्म-उत्क्रान्ति के पावन प्रणेता आचार्य श्री भिक्षु का प्रादुर्भाव, प्रव्रज्या, सत्तत्त्व आत्मसात् करने की उदग्रभावना, अन्तर्द्वन्द्व, शास्त्र-मन्थन, अध्यात्म-अभियान की ओर उत्क्रान्त चरण-न्यास, तेरापन्थ का आविर्भाव, आचार्य भिक्षु का साहस, आत्म-शक्ति और तपस्यामय जीवन, विघ्नों, बाधाओं और परिषहों के बीच हिमाद्रिवत् उनका अडिग भाव, सद्धर्म का सर्वतोमुखी संप्रसार आदि का चन्द पद्यों में उन्होंने बड़ा रोमांचक वर्णन उपस्थित किया है।

पंचम सर्ग का प्रारम्भ ग्रन्थकार ने आचार्य भिक्षु के स्वर्गारोहण के प्रसंग पर जन-जन में व्याप्त औदासीन्य एवं शोक-संकुलता की सजग झाँकी उपस्थित करते हुए किया है। इस सर्ग में आगे उन्होंने तेरापन्थ के परवर्ती छह आचार्यों के यशस्वी एवं अध्यात्म-उद्योतमय जीवन पर संक्षेप में प्रकाश डाला है।

षष्ठ सर्ग से दशम सर्ग तक अष्टमाचार्य श्री कालूगणी, जिनके संपर्क, सेवा और प्रसार का लाभ ग्रन्थकार को अपने जीवन में भूरिशः प्राप्त था, के यशस्वी एवं समृद्ध जीवन का एक समृद्ध शब्द-चित्र, उन्होंने प्रस्तुत किया है। महामना मन्त्रिवर श्री मगन मुनि के निरुपम मेधावितापूर्ण उदात्त व्यक्तित्व की झाँकी भी उन्होंने साथ ही साथ बड़े भावभरे शब्दों में दी है। इन सर्गों में नवमाचार्य श्री तुलसी गणी के दीक्षा-संस्कार, चारित्र्य एवं श्रुत की सतत आराधना, सर्वतोमुखी विकासप्रवण जीवन, युवाचार्य के रूपमें उनका मनोनयन आदि महत्त्वपूर्ण घटनाओं का चित्रण भी यथा-प्रसंग बड़े स्फूर्त एवं प्रेरक शब्दों में अंकित हुआ है।

अग्रिम सर्गों में ग्रन्थकार ने चरितनायक के परम तेजस्वी एवं उत्क्रान्त जीवन का विशदता से वर्णन किया है। आचार्य-पदारोहण का ऐतिहासिक प्रसंग, संघीय जीवन में सर्वतोमुखी विद्या-विकास के निमित्त आचार्यवर की अहर्निश प्रयत्न-परायणता, संघ का सार्वत्रिक सन्निर्माण, जन-जन के चारित्रिक विकास के निमित्त

अणुव्रत-आन्दोलन का प्रवर्तन, ऐतिहासिक पद-यात्राएँ, अध्यात्म-उद्योत, साहित्य-सर्जन, विघ्नसंतोषी कुछ-एक विरोधियों द्वारा समय-समय पर सर्जित बाधाएँ, विघ्न, आचार्यवर के गंभीर, विराट् एवं उदार व्यक्तित्व की झाँकियां, उनकी अखण्ड सत्य-साधना, देश-विदेश के विद्वानों, विचारकों, दार्शनिकों, बुद्धिजीवियों, लोक-नेताओं का आचार्यवर तथा उन द्वारा प्रवर्तित अध्यात्म-अभियान के प्रति आकर्षण आदि का जो दीप्ति एवं आभामय चामत्कारिक चित्र अंकित किया है, निःसन्देह वह उनकी चमत्कारवती प्रतिभा का परिचायक है।

इस काव्य-कृति के हिन्दी-भावानुवाद एवं सम्पादन में मेरे सहोदरोपम अनन्य साथी, संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, अंग्रेजी आदि अनेक भाषाओं तथा साहित्य, दर्शन आदि विषयों के प्रखर विद्वान् भाई श्री छगनलाल शास्त्री ने जिस तन्मयता एवं मनोयोग से श्रम किया है, उसके लिए मैं कुछ लिखूं, यह उपचार अपेक्षित नहीं है।

परमाराध्य, जनवन्द्य आचार्यवर के धवल-समारोह के द्वितीय चरण के ऐतिहासिक अवसर पर 'आदर्श साहित्य संघ' की ओर से इस महाकाव्य का प्रकाशन करते हमें अत्यन्त प्रसन्नता है।

आशा है, सहृदय पाठक इस उत्कृष्ट काव्य-कृति के माध्यम द्वारा इस शती के परम अध्यात्म-उन्नेता महापुरुष के दुग्ध-धवल जीवन से आत्म-निर्माण की प्रेरणा पायेंगे।

सरदारशहर (राजस्थान)
मर्यादा-महोत्सव,
वि० सं० २०१९

जयचन्दलाल दफ्तरी
व्यवस्थापक
आदर्श-साहित्य-संघ

आमुखम्

अलंकारग्रन्थेषु इदमेवाचार्यमहता कण्ठघोषेणावेदितं यन्महाकाव्यमेव कविकर्मसु सातिशयं सहृदयहृदयाह्लादकारि। महाकाव्यसांगिरसरूपेण श्रृंगारवीरशान्तानामन्यतम एव तैर्निर्णीतः। तेषुः पुनः शान्तरसस्यैवाधिकरमणीयत्वं प्रतिपादितं वर्त्तते। तथा च आर्षमहाकाव्यद्वये शान्तस्यैवांगिरसत्वमानन्दवर्द्धनाचार्यपादेन महता संरम्भेण निवेदितम्। अतएव पण्डितप्रवराणां रघुनन्दनशर्मणां कृति तुलसीमहाकाव्यमपि सुतरामभिनन्दनीयम्। यैः खलु तत्रभवतामाचार्यचरणानां शास्त्रेषु पाण्डित्यं प्रवचनेषु नैपुण्यं तथा अनुत्तरचरितं प्रत्यक्षीकृतं प्रत्यक्षीक्रियते वा ते ग्रन्थस्यास्यानुशीलनेन परमं प्रमोदभरं नूनमनुभविष्यन्तीत्यत्र नास्ति कश्चन संशयावकाशः।

दुरन्तोऽयं कालः। कालप्रभावान्मन्दतामुपयान्ति सर्वा अधात्मसम्पदः। तासां रक्षणाय यैः खलु महान्तं क्लेशमप्यविगणय्य प्रयत्नविशेष आस्थीयते तेषामेव महात्मनां जीवनमवलम्ब्य यदिदं वाङ्मयं वस्तु प्रकाशितं तस्य गौरवं सर्व एवं वयं विशेषेणोपलभामहे। आशास्महे च ग्रन्थस्यास्य प्रचारेण देशस्य कल्याणं तथा अभ्युदयश्चाचिरेणैवसम्पत्स्येते इति।

श्री गौरीनाथ शास्त्री

श्री तुलसी महाकाव्य के रचयिता, गीर्वाण भारती के अमर उपासक
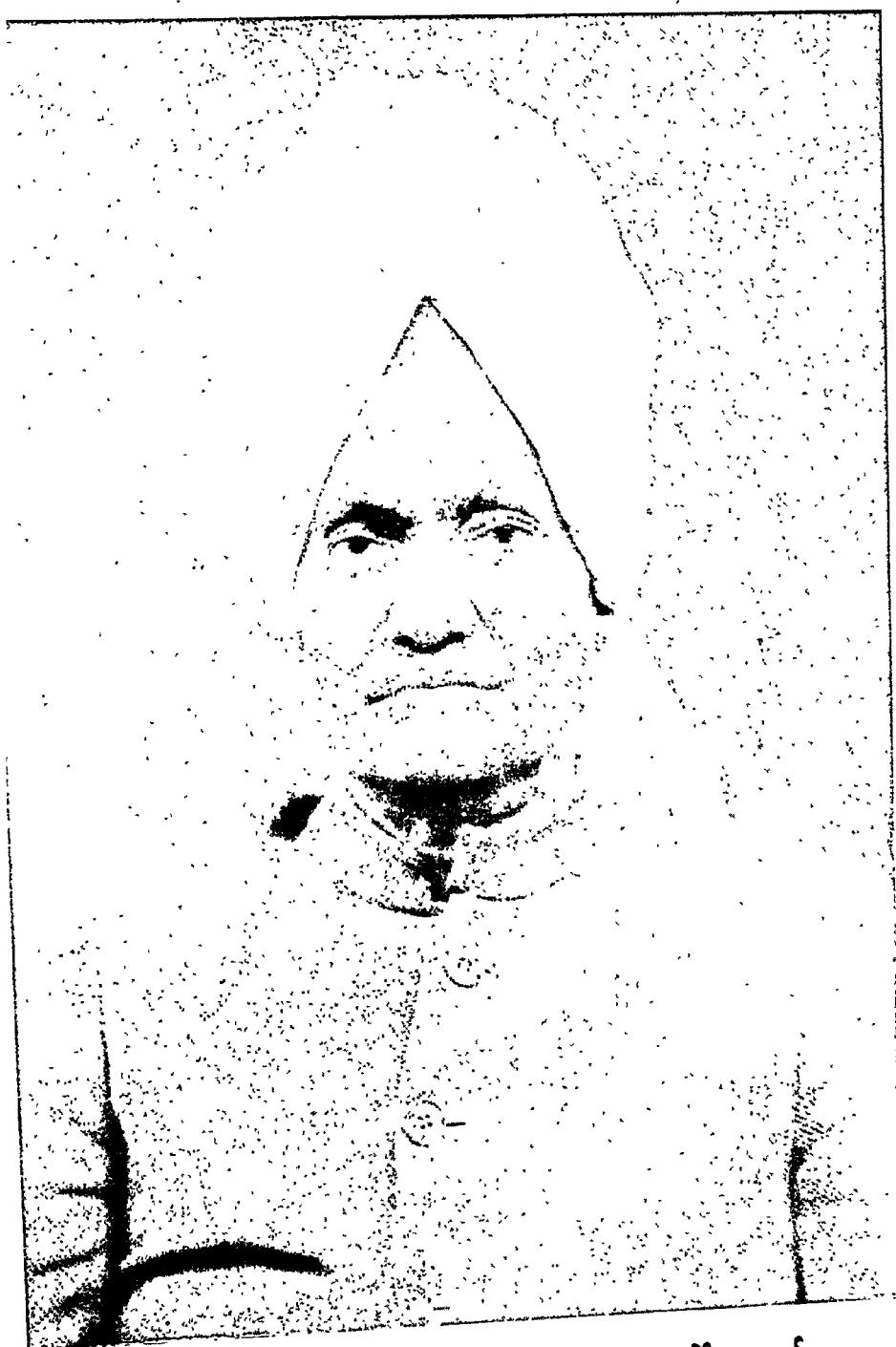
आशुकविरत्न पं० रघुनन्दन शर्म्मा, आयुर्वेदाचार्य

सुनामई, जिला—अलीगढ़ (उत्तर प्रदेश)

श्री तुलसी-महाकाव्यम्

पं० रघुनन्दन शर्मा

ओम्

श्री तुलसी-महाकाव्यम्

(१)

निःश्रेयसं यच्छतु वीतराग-
पवित्रपादाब्जपरागरागः ।
यदीययोगादबुधोऽपि शब्द-
संसारसिन्धुं तरति त्वरैव ॥

(२)

यां ध्यातुमिच्छन्त्यमरा मराल-
यानासनामर्थितसार्थशब्दाः ।
सा वर्णसौन्दर्यसुधां ददीत,
वाणी प्रमाणीकृतपूर्वकान्या ॥

(३)

सुवर्णशैलोपमभिक्षुवंशा-
दादाय निःशङ्कसुवर्णराशिम् ।
तमेव किं वर्णयितुं महान्तं,
धिया दरिद्रोऽपि लभेय लज्जाम् ॥

(४)

आचार्यमाचारविचारचारुं,
व्रतैरतुल्यं तुलसीमुनीन्द्रम् ।
अधिष्ठितस्तच्चरितस्रजाऽहं,
पद्यैः सुमैर्गुम्फितया सहाद्य ॥

(१)

प्रारिप्सित महाकाव्य की निर्विघ्न परिसमाप्ति का अभिप्रेत लिये कवि आदि में वीतराग-स्तवना के रूप में मंगलाचरण करता है—

जिन्होंने राग, द्वेष आदि आत्म-शत्रुओं का पराभव कर वीतराग की भूमिका प्राप्त की है, उनके पवित्र चरण-कमलों के अनुग्रह से मुझे आत्म-कल्याण का पथ प्राप्त हो। उन चरण-कमलों का एक अद्भुत वैशिष्ट्य है, जिनका संयोग पा अपण्डित भी शब्द-वारिधि को अविलम्ब लांघ जाता है।

यहाँ एक ओर कवि ने वीतराग की अभ्यर्थना कर जीवन के परम सत्य—मुक्त भाव की ओर अग्रसर होने की भावना व्यक्त की है, वहाँ साथ ही साथ वीतराग के चरण-कमलों के संयोग के प्रासंगिक फल के रूप में विशाल शब्द-शास्त्र को अविलम्ब पार कर जाने का भी इङ्गित है।

कवि ने महाकाव्य की सफल संपन्नता में अपने अन्तर्विश्वास की एक कलात्मक अभिव्यक्ति भी उक्त शब्दों द्वारा दी है।

(२)

अब कवि इस पद्य द्वारा वाग्देवी की अभ्यर्थना करता है—

हँस जिसका वाहन है, सार्थक शब्दों की याचना करनेवाले सुर-वृन्द जिसका ध्यान करना चाहते हैं, पूर्वतन (विवादास्पद) काव्यों के प्रामाण्य की जो कसौटी रही है, वह वाग्देवी वाक्-रचना में सौन्दर्य भरनेवाला अमृत मुझे दे।

(३)

इस पद्य में कवि अपने अहंकार का निरसन करता है और साथ ही साथ प्रस्तुत महाकाव्य के प्रणयन में अपनी क्षमता भी काव्यात्मक भाषा में कह-जाता है—

आचार्य भिक्षु का साधु-संघरूपी वंश सुवर्ण के पर्वत के समान है। मुझमें बुद्धि का दारिद्र्य है। मैंने उस सुवर्ण-गिरि से निःसंकोचतया सुवर्ण—सुन्दर वर्ण लिए हैं। तब भला उसका वर्णन करने में मुझे क्यों लज्जित होना पड़ेगा ?

कवि का आशय है, गृहीत सुवर्ण—सुन्दर वर्ण—सुन्दर अक्षरावली के रूप में मेरे पास विपुल शब्द-सम्पदा है, जिससे मैं विशाल भिक्षु-वंश का वर्णन कर सकूंगा।

(४)

जिनके आचार और विचार में चारुता है, जो अप्रतिम व्रतों का पालन करते हैं, श्रमणगण के जो अधीश्वर हैं, उन आचार्यवर्य श्री तुलसी के सम्मुख मैं पद्य-पुष्पों द्वारा ग्रथित उनके जीवन-चरित की माला लिये उपस्थित हूँ।

(५)

एतां समेतां गुणिभिर्मिलिन्दैः,
रसं ग्रहीतुं परितः पतद्भिः ।
अङ्गीकरोतु प्रकृतिप्रदत्तां,
सोऽयं कृपापूर्वमभूतपूर्वाम् ॥

(६)

श्रियाऽऽश्रितैर्धर्मधुरं दधानै—
राध्यात्मिकैरार्य — जनैरुपेतः ।
विभात्ययं भारतवर्षदेशो,
देहे भुवो नाभिरिव प्रधानः ॥

(७)

यस्याग्रजेभ्यो गुणगर्भितेभ्यो,
विदेशिनोऽध्यैषत सर्वविद्याः ।
शिष्या यदीया गुरुतामुपेताः,
विशेषविज्ञान — विधाविदानीम् ॥

(८)

रुद्धो रथः क्वापि न यस्य राज्ञां,
जले स्थले वा वियतस्तले वा ।
आक्रामकानेव निहन्तुकामाः,
कामं बभूवुर्विशिखा यदीयाः ॥

(५)

यह वह माला है, जिसका रस लेने के लिए सहृदय जनरूपी भौंरे चारों ओर मंडरा रहे हैं, जिस पद्यात्मक माला के सर्जन का आधार निसर्गजा प्रतिभा है, यत्नसाध्यता नहीं, जैसी पहले नहीं रची गई है, उस माला को आचार्यवर्य स्वीकार करने का अनुग्रह करें।

कवि अब भारत का वर्णन करता है :—

(६)

भारतवर्ष वह देश है, जहाँ धर्म की धुरा को वहन करनेवाले, ओजस्वी, आध्यात्मिक पुरुष निवास करते हैं। जो (भारतवर्ष) वसुन्धरा के शरीर में नाभि के तुल्य महत्त्वपूर्ण है।

(७)

जहाँ के गुणवान् अग्रजन्मा—ब्राह्मणों से वैदेशिक लोग सब विद्याओं का अध्ययन करते रहे थे, वे उसी भारत के शिष्य (वैदेशिक जन) विविध वैज्ञानिक विषयों में आज गुरु बन गये हैं।

(८)

जहाँ के राजाओं के रथ की गति न जल में, न स्थल में और न गगन-तल में—कहीं भी रुकती नहीं थी। जिनके बाण केवल आक्रान्ताओं के हनन के लिए ही थे। अर्थात् जो दूसरों पर कभी आक्रमण नहीं करते थे—जिनमें अनाक्रमण की सहज वृत्ति थी।

(९)

विडौजसा जातमहौजसाऽपि,
सम्पन्नसख्या बलिनो यदीयाः ।
स्वर्गं स्वगेहाङ्गणमेव जग्मुः,
स्थिता विमानेषु मरुद्रयेषु ॥

(१०)

शस्यैः प्रशस्यैः कुसुमैः फलैश्च,
व्याप्ताः सरिद्भिः सलिलप्रदानात् ।
सेव्या शचीशेन यथोचिततां-
वसुन्दरा यस्य वसुन्धरा न ॥

(११)

गतेषु गौरेषु नरेश्वरेषु,
पारे समुद्रं निजजन्मभूमिम् ।
प्रकाशते सम्प्रति सत्स्वराज्यं,
राहौ विलुप्ते सवितेव यत्र ॥

(१२)

श्रीनेहरूर्नेह यदाऽभविष्यत्,
प्रधानमन्त्री सुविवेकपूर्णः ।
राज्यं नवं बालमिवार्कमेव,
मरुत्सुतीभूय परोऽगिलिष्यत् ॥

महा तेजस्वी देवराज इन्द्र जहाँ के योद्धाओं का मित्र था। वायु के समान वेग से चलनेवाले विमानों पर जो चढ़ा करते थे। अतएव जो स्वर्ग को अपने घर का आँगन सा मानते थे।

(१०)

जहाँ की वसुन्धरा सरिताओं द्वारा दिये गये जल के कारण सुन्दर धान्यों, फूलों और फलों से हरीभरी थी। सुरेन्द्र उचित समय पर वृष्टि कर जिसका सिञ्चन करता था। इस प्रकार जो वसुन्धरा असुन्दर नहीं थी—अत्यन्त सुन्दर थी।

(११)

अंग्रेज शासकों के समुद्र पार अपनी जन्मभूमि में चले जाने पर अब भारत में सत् स्वराज्य देदीप्यमान हो रहा है, जैसे राहु के विलुप्त हो जाने पर सूर्य देदीप्यमान होता है।

( )

पण्डित नेहरू, जो बड़े विवेकशील हैं, जिनके द्वारा यह नया गणराज्य बड़े नैपुण्य के साथ उत्तरोत्तर विकासोन्मुख रूप में चलाया जा रहा है, यदि प्रधान मन्त्री नहीं होते तो हमारे इस नये गणराज्य को कोई ऐसे निगल जाता, जैसे हनुमानजी ने बाल-सूर्य को निगल लिया था।

(१३)

धारात्रयेणाऽपि पृथग् वहन्ती,
यत्र त्रिवेणीव पयोधिमेकम् ।
वाञ्छन्ति मोक्षं सकला मिलित्वा,
भिन्नप्रथा वैदिकजैनबौद्धाः ॥

(१४)

प्राणान् वियुज्यापि यदीयराजै-
स्त्रातः स्वधर्मो यवनप्रमादात् ।
अद्भिः कृशानोरिव दग्धदुग्धं,
यत्रैव सा राजति राजभूमिः ॥

(१५)

चित्तोरदुर्गस्थपतिव्रतानां,
भस्मावशेषेण मुखं स्वकीयम् ।
कृष्णीचकार स्वहठेन यस्यां,
विधर्मिराजः परदारजारः ॥

[श्री तुलसी

(१३)

जहाँ वैदिक, जैन और बौद्ध—वैचारिक दृष्टि से तीनों भिन्न-भिन्न दार्शनिक धाराएँ पृथक्-पृथक् बहती हैं, पर तीनों का अन्तिम अभिप्रेत मोक्ष—सर्व दुःखों से छुटकारा पाना है। जैसे त्रिवेणी—गंगा, यमुना और सरस्वती तीनों नदियाँ भिन्न-भिन्न धाराओं के रूप में बहती हुई भी अन्ततः समुद्र को चाहती हैं। (तीनों मिलकर अन्त में समुद्र में अन्तर्हित हो जाती हैं।)

भारत के अन्तवर्ती राजस्थान प्रदेश का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

(१४)

भारत में राजस्थान की वह वसुन्धरा अत्यन्त शोभापन्न है, जहाँ के राजाओं ने अपने प्राणों का बलिदान करके भी यवनों से अपने धर्म की रक्षा की, जैसे अग्नि से जलते हुए दूध की रक्षा पानी स्वयं अपना अस्तित्व मिटाकर भी करता है।

(१५)

जहाँ (जिस राजस्थान में) पर-स्त्री-लोलुप यवनराज (अलाउद्दीन खिलजी) ने चित्तौरगढ़-स्थित पतिव्रता नारियों, जो सतीत्व की रक्षा के लिए जौहर द्वारा प्राण दे चुकी थीं, की राख से अपना मुँह काला किया।

राजस्थान का ऐतिहासिक गौरव वर्णित कर कवि अब मारवाड़ में स्थित लाडनूं नगरी का वर्णन करता है—

(१६)

स्वच्छं सगन्धं वसनं वसानैः,
प्रियंवदैः स्मेरमुखैः प्रसन्नैः ।
विद्यावतां वित्तवतां व वर्य्यै-
र्व्यैरनेकैः प्रणिवास्यमाना ॥

(१७)

जीवैर्वपुःस्थैरिव काचविष्टै-
र्विद्युत्प्रदीपैः — रजहृत्समीपैः ।
वितन्वती दीप्रदिनायमाना,
ध्वान्तान्धरात्रीरपि सूच्यभेद्याः ॥

(१८)

चित्रैर्विचित्रैः खचितैः सुरम्यै-
र्हर्म्यैः अमेया गगनं स्पृशद्भिः ।
तस्या विभागैकमरुस्थलीस्था,
या लाडनू नाम पुरी चकास्ति ॥

(१६)

तत्रौसवालाभिधजातिरेका,
जिनेन्द्र—धर्मं समुपासमाना ।
व्यापार—संयोजितवर्त्तनेन,
राजन्यजन्याऽपि मता वणिक्सु ॥

[१६-१८]

जहाँ राजस्थान के एक भाग में अवस्थित मारवाड़ के अन्तर्गत लाडनूं नामक एक सुन्दर नगरी है, जिसमें स्वच्छ और सुवासित वस्त्र धारण करनेवाले, मधुर बोलनेवाले, हँसमुख, प्रसन्न, सुशिक्षित, सम्पत्तिशाली अनेक श्रेष्ठ वैश्य निवास करते हैं।

जिस प्रकार शरीर में जीव परिव्याप्त है, उसी तरह जहाँ काच के आवरणों में स्थित बिजली के प्रदीप, जो आपस में एक दूसरे से सटे हैं, घोर अन्धकारमयी रातों को भी दीप्तिमय दिन का रूप देते रहते हैं।

तरह-तरह के सुन्दर चित्रों से सुसज्जित, आकाश को छूनेवाले ऊँचे भवन जिसकी पहचान है।

(१९)

वहाँ जैन धर्म का अनुसरण करनेवाली ओसवाल नामक एक जाति है, जो वंशानुक्रम से क्षत्रिय है, पर व्यापार की वृत्ति के कारण वैश्यों में मानी जाती है।

(२०)

गुरूपदेशेन यदीयलोकाः,
कुलेऽपि जाता विभवान्वितानाम् ।
ग्रस्ता न तद्वैभवकर्दमेन,
पङ्कोद्भवानीव कुशेशयानि ॥

(२१)

निर्मुच्य निर्मोकमिवोरगः स्वं,
पुत्रं कलत्रं च धनं च धाम ।
अश्रून् विमुञ्चत्यपि बन्धुवर्गे,
जनो यदीयो मुनितामुपैति ॥

(२२)

प्राक् तस्य भृत्याः पदपङ्कजानां,
तलानि नित्यं विमलान्यकुर्वन् ।
तान्येव धूल्याऽध्वनि धूसराणि,
भवन्ति विद्धान्युत कण्टकाग्रः ॥

(२३)

यो वायुवेगेन विना रथेन,
गन्तुं न शक्तोऽपि पदत्रयाणि ।
स्कन्धे स भारं निजपुस्तकानां,
निधाय पद्भ्यां कुरुते विहारम् ॥

(२०)

जिस जाति के लोग धनी परिवारों में उत्पन्न होकर भी गुरु के उपदेश के कारण वैभव के कीचड़ में नहीं फँसते, जैसे कमल कीचड़ में उत्पन्न होते हैं पर उससे लिप्त नहीं होते।

(२१

जिस प्रकार साँप केंचुली को छोड़ देता है, उसी प्रकार जिस जाति का सत्त्वशील मनुष्य पुत्र, स्त्री, धन, घर आदि को छोड़ संन्यास ग्रहण कर लेता है। सांसारिक मोहवश आँसू गिराते कुटुम्बी जन की ममता उसे बाँध नहीं पाती।

(२२)

(संन्यस्त होने के) पहले जिसके चरण-कमलों के तलुओं को नित्य नौकर पोंछा करते थे, वही चरण-तल (संन्यस्त होने के पश्चात्) मार्ग में धूल-धूसरित होते रहते हैं, काँटों से बिंधते रहते हैं।

(२३)

जो वायु के समान वेग से चलनेवाले यान (मोटर आदि) के बिना तीन कदम भी चल नहीं सकता था, वह अपने कन्धे पर पुस्तकों का भार धारण किये पैदल विहार करता है।

(२४)

जीवानजीवानशुभान् शुभांश्च,
पापानि पुण्यानि च बन्धमोक्षौ ।
हिंसामहिंसामनृतं च सत्यं,
बालोऽपि जानात्यखिलं यदीयः ॥

(२५)

स्याद्वाददात्रेण शितेन यस्याः,
स्त्रियोऽपि शास्त्रार्थविवादजालम् ।
छेत्तुं क्षमा मण्डनमिश्रकस्य,
पत्नी वितर्कानिव शङ्करस्य ॥

(२६)

तपस्विने साधुगुणान्विताय,
समर्प्य भक्ष्यं च पदं च भक्त्या ।
सदा सदाराः पुरुषा उदाराः,
यस्याः कृतार्था बहुशो भवन्ति ॥

(२७)

तस्याः खटेडाख्यकुलेऽनुकूले,
श्रीराजरूपोऽजनि राजरूपः ।
विशालकायोऽपि नितान्तशान्तो
जिनानुयायि — श्रमणानुवर्ती ॥

(२४)

जिस जाति का बालक भी जीव-अजीव, शुभ-अशुभ, पाप-पुण्य, बन्ध-मोक्ष, हिंसा-अहिंसा, मिथ्या-सत्य जैसे तत्त्वों को सम्यक् जानता है।

(२५)

जिस जाति की सन्नारियाँ स्याद्वादरूपी शस्त्र द्वारा शास्त्रार्थ—वाद-विवाद के जाल को उस प्रकार काट सकती हैं, जिस प्रकार मण्डन मिश्र की पत्नी ने शङ्कराचार्य के तर्कों को काटा था।

(२६)

जिस जाति के स्त्री-पुरुष तपस्वी और सद्गुणी साधुओं को भक्तिपूर्वक भोजन व वस्त्र समर्पित कर अपने को अत्यधिक कृतकृत्य मानते हैं।

(२७)

उस जाति के अन्तर्गत खटेड़ नामक कुल में राजा तुल्य रूप—प्रभाव-सम्पन्न राजरूपजी उत्पन्न हुए, जो शरीर से विशाल—सबल और सुदृढ़ थे पर प्रकृति से अत्यन्त शान्त थे (शरीर-सम्पदा के गर्ववश उग्र प्रकृतिवाले नहीं थे।) वे जैन श्रमणों के अनुयायी थे।

(२८)

जानातु को नाम भविष्यवृत्त-
मस्यैव पौत्रो मुनिपः प्रभूय।
पापस्य पुञ्जं प्रथितं पृथिव्यां,
लङ्कां हनूमानिह दग्धुमर्हः॥

(२९)

वङ्गप्रदेशे व्यवसायकेन्द्रे,
सिराजगञ्जे नगरोत्तमे सः।
दूधोडिया — श्रीबुधसिंहसंज्ञ-
महापणस्थः प्रपणायते स्म॥

(३०)

तत्रापणे स्वामिसमां प्रतिष्ठां,
लेभे स मान्यैरपि माननीयः।
प्रधान— — —संचालकरूपमेत्य,
सर्वां व्यवस्थां स्वकरीचकार॥

(३१)

स्वापेक्षया प्राप स तत्र चित्तं,
तस्याऽभवद् वैतनिकी न सेवा।
तेनाऽनुशिष्टोऽखिल — कर्मचारी,
कार्यं चकाराऽवसरे नियुक्ते॥

(२८)

भविष्य की इस बात को कौन जानता था कि इन्हीं के पौत्र श्रमण-संघ के अधीश्वर बनकर भूमण्डल में व्याप्त पाप-पुञ्ज को उसी प्रकार दग्ध कर डालेंगे, जिस प्रकार हनुमानजी ने लङ्का को दग्ध कर डाला था।

(२९)

व्यापार के केन्द्र बंगाल प्रदेश में स्थित प्रसिद्ध नगर सिराजगंज में श्री बुधसिंहजी दूधोड़िया के फर्म में वे व्यापार-कार्य देखते थे।

(३०)

उस फर्म में उन्होंने फर्म के स्वामी के तुल्य प्रतिष्ठा प्राप्त की। वहाँ के उच्च श्रेणी के व्यक्तियों में उनका बहुत सम्मान था। वे फर्म के प्रधान संचालक के रूप में सारी व्यवस्था अपने हाथ से करते थे। (फर्म के प्रधान संचालक के रूप में सारी व्यवस्थाएँ उनके हाथ में थीं।)

(३१)

अपने व्यय के अनुरूप वे वहाँ से अर्थ लेते। वे वैतनिक रूप में कार्य नहीं करते थे। सब कर्मचारी गण उनके अनुशासन में थे और वे (कर्मचारी गण) अपने निर्धारित समय पर यथावत् कार्य करते।

(३२)

स सत्यवादी वितथाद् विरुद्धो,
विश्वासघातं कपटं न सेहे।
संसाधनार्थं विहत — प्रणस्य,
प्राणान् प्रियांश्चापि तृणाय मेने ॥

(३३)

दयामयो जैन — मतावलम्बी,
यस्यां स वीथ्यां कुरुते स्म वासम्।
न सामिषः कोऽपि चचाल तत्र,
भीतस्तदीयान् महतः प्रतापात् ॥

(३४)

सामाजिकान् बन्धुजनान् स्वकीयान्,
स स्नेहभावैर्बिभरांचकार।
आजीविकार्थं समुपागतांस्तान्,
नियोजयामास महापणेषु ॥

(३५)

परन्त्वकस्मात् स विचारभेदात्,
तत्याज शीघ्रं परदेशवासम्।
धनं हि सर्वस्वमसन्यमानैः,
सह्याऽवरुद्धा न विचारधारा ॥

(३२)

श्री राजरूपजी सत्यवादी थे। असत्य से उन्हें चिढ़ थी। विश्वासघात और कपट वे सह नहीं सकते थे। किये हुए प्रण के पालन के लिए वे अपने प्रिय प्राणों को भी तृण के समान मानते थे।

(३३)

वे जैन मतावलम्बी थे, दयावान् थे। उनका इतना प्रभाव था कि जिस पट्टी में वे निवास करते थे, उसमें से कोई मांस लेकर नहीं निकलता था।

(३४)

अपने सामाजिक बन्धुओं को वे सदा स्नेह की दृष्टि से देखा करते थे। जो आजीविका के लिए आते, उन्हें वे बड़े फर्मों में काम पर लगा देते थे।

(३५)

किन्तु अकस्मात् विचार-भेद के कारण उन्होंने परदेश में रहना छोड़ दिया। जो धन को ही सर्वस्व नहीं मानते, वे अपने विचार-स्वातन्त्र्य का अवरोध सह नहीं सकते।

(३६)

जलेन वातेन विनिर्मलेन,
भोज्यैः पदार्थैश्च परं विशुद्धैः ।
मुनीशपादैः सहजेन लभ्यैः,
स्वां लाडनूमेव पुरीं सिषेवे ॥

(३७)

कार्याण्यसाध्यानि कृतान्यनेन,
महापणेशैरिति सुप्रसन्नैः ।
तस्मै ततो वार्षिकपारितोष-
रूपं धनं प्रापि गृहस्थिताय ॥

(३८)

गेहव्ययं स्वं प्रतिवर्षमच्छं,
विधाय पूर्णं धनिकोचितं च ।
मान्यप्रतिष्ठां नगरे निनाय,
नामानुरूपामिति राजरूपः ॥

(३९)

लालान्तिमं तनसुखं प्रथमं स्वकीयं,
शोभादिचन्द्र इति नामयुतं द्वितीयम् ।
स प्राप्य भ्रमरमलं तनयं तृतीयं,
वृक्षः फलैरत्र सफलो जगति प्रजातः ॥

(३६)

जहाँ का जल-वायु शुद्ध है, जहाँ अत्यन्त शुद्ध खाद्य पदार्थ उपलब्ध हैं, जहाँ साधु-सेवा का सहज अवसर रहता है, ऐसे अपने जन्म-स्थान लाडनूँ शहर में ही वे निवास करने लगे।

(३७)

अपने व्यवसाय-काल में उन्होंने ऐसे-ऐसे कार्य किये थे, जिन्हें असाध्य माना जाता था, इस बात को दृष्टि में रख उनके स्वामी उन पर बहुत प्रसन्न थे। वे पारितोषिक के रूप में प्रतिवर्ष उन्हें घर बैठे अर्थ प्रेषित करते रहे।

(३८)

उनका वार्षिक घर-खर्च एक सम्पन्न परिवार के अनुरूप काफी था। नगर में उनकी अपने नाम राजरूप (राजा का रूप) के अनुरूप अच्छी प्रतिष्ठा थी।

(३९)

उनके तीन पुत्र हुए—(१) तनसुखलालजी (२) शोभाचन्दजी (३) झूमरमलजी। इन पुत्रों को पाकर वे मानों फलवान् वृक्ष की तरह सफल होगये।

(४०)

तस्यात्मजो यः सरलस्वभाव-
स्तृतीयको भ्रमरमल्लनामा ।
स पर्यणैषीद् वदनां वदान्यां,
धीरां धरित्रीमिव गेहलक्ष्मीम् ॥

(४१)

सौन्दर्य — हेतोर्मुखमण्डलस्य,
सा चन्द्रपूर्वा वदनेव युक्ता ।
विद्वज्जनै — र्व्याकरणस्य सूत्र-
प्रयोगतः पूर्वपदं व्यलोपि ॥

(४२)

श्वश्रूं स्वकीयां श्वशुरं निजं च,
सोत्साहपूर्वं प्रणिषेवमाणा ।
मुखानि लज्जाऽवनतानि चक्रे,
परस्नुषाणां कलहप्रियाणाम् ॥

(४३)

आभूषणानि प्रथया दधाना,
पाकालये रुच्यरसान् पचन्ती ।
अलङ्कृता सा सुरसान्विता सा,
महाकवीनां कवितेव जाता ॥

(४०)

उनके तीसरे पुत्र सरलमना झूमरमलजी का बुद्धिमती, पृथ्वी के समान धैर्यशीला, गृह-लक्ष्मी-स्वरूपा वदनांजी के साथ विवाह हुआ।

(४१)

अपने मुख-मण्डल की सुषमा के कारण यह उपयुक्त था कि उनका नाम चन्द्र-वदना होता। पर विद्वानों ने व्याकरण के सूत्र के प्रयोग से मानों पूर्व पद का लोप कर दिया, जिससे 'चन्द्रवदना' में से केवल 'वदना' अवशिष्ट रह गया।

(४२)

उन्होंने (वदनांजी ने) अपने ससुर और सास की उत्साह के साथ सेवा करते हुए दूसरों की उन पुत्र-वधुओं के मुँह लज्जा से झुका दिये, जो निरन्तर झगड़े करती रहती हैं।

(४३)

देश और जाति की प्रथा के अनुरूप वह आभरण धारण करती थीं। रसोई में स्वयं रुचिकर रसों—पदार्थों को पकाती थीं। ऐसा करती हुई वह मानों महाकवि की कविता के समान हो गई थीं। अर्थात् जैसे महाकवि की कविता में रस होते हैं, अलंकार होते हैं, उसी तरह आभरणों से वह अलंकारवती और रसोई में विविध सरस पदार्थों का परिपाक करने से रसवती थीं।

(४४)

तत्कुक्षितो मोहनलालनामा,
श्रीखींवराजो न्यजनि द्वितीयः।
मन्नादिलाल — स्तनयस्तृतीय-
श्चम्पादिलालः कथितश्चतुर्थः॥

(४५)

मलान्तिमः पञ्चमसागरश्च,
लाडाँह्वया वाऽप्यथ मोहराँह्वा।
मनोहराँह्वा दुहिता तृतीया,
पुत्रीत्रयं जातमिति क्रमेण॥

(४६)

चम्पादिलालाह्व — चतुर्थपौत्रः,
श्रीराजरूपस्य महाप्रियोऽभूत्।
तेनैव सार्धं स महानसस्थो,
भोज्यांश्च पेयान् बुभुजे पदार्थान्॥

(४७)

न तं ततस्तर्जयितुं समर्थो,
बृहत्सदस्योऽपि गृहस्य कश्चित्।
पितामह — स्वीयकराम्बुजेन,
स लालितो वा परिपालितोऽभूत्॥

(४४-४५)

उनकी कोंख से मोहनलालजी, खींवराजजी, मन्नालालजी, चम्पालालजी, सागरमलजी—ये पाँच पुत्र तथा लाडाँजी, मोहराँजी व मनोहराँजी—ये तीन पुत्रियाँ उत्पन्न हुईं।

(४६)

चौथे पौत्र चम्पालालजी अपने पितामह राजरूपजी के बहुत प्रिय थे। राजरूपजी जो भी खाद्य, पेय पदार्थ सेवन करते, चम्पालालजी का उनमें भाग अवश्य होता।

(४७)

चम्पालालजी को घर का कोई बड़ा सदस्य भी तर्जना-ताड़ना नहीं दे सकता था। क्योंकि अपने पितामह के कर-कमलों से वे लालित-पालित थे।

अथैकदा तं वदना तदीया,
माता गिरा गर्हयितुं प्रवृत्ता ।
तस्या उपालम्भमदात् प्रभूतं,
श्रीराजरूपो धृतपौत्रपक्षः ॥

(४६)

यदा कदाचित् कृतखेलमेलान्,
सर्वान् वयस्यान् सुमनोऽभिरूपान् ।
जुगुम्फ सख्यस्रजि सुन्दरायां,
बाल्यात्प्रभृत्येव स मञ्जुभाषी ॥

(५०)

हिन्दीं स्वभाषां गणितं च सम्यक्,
स पाठशालासु परास्वधीत्य ।
व्यापारहेतोः कलिकातिकादि-
वङ्गप्रदेशीय — पुरेषु यातः ॥

(५१)

कार्यं प्रकुर्वन्नपि सुश्रमेण,
सोऽनल्पकालावधि किन्तु धैर्यात् ।
न तत्र तस्थौ हृदयस्थलस्थात्,
वैराग्यबीजाद् मुनिसेवयोप्तात् ॥

(४८)

एक बार ऐसा बना—माता वदनांजी उन्हें कुछ बुरा-भला कहने लगीं। इस पर राजरूपजी ने अपने पौत्र का पक्ष लेकर उन्हें (वदनांजी को) बड़ा उपालम्भ दिया।

(४६)

चम्पालालजी बचपन से ही मधुर भाषी थे। जब कभी खेल में सब हमजोली आपस में मिलते, वे (चम्पालालजी) सबको फूलों की तरह मैत्री की माला में गूँथ देते थे।

(५०)

हिन्दी, महाजनी, गणित आदि का पाठशाला में सम्यक् अध्ययन कर व्यापार के निमित्त वे बंगाल के कलकत्ता आदि नगरों में गये।

(५१)

यद्यपि वे परिश्रमपूर्वक वहाँ कार्य करते थे पर उनके हृदय में तो मुनियों के सत्संग के कारण वैराग्य का बीज-वपन हो चुका था। अतएव थोड़े समय तक भी वहाँ रहने का धीरज वे नहीं रख सके।

धनीश्वरं जीवनमल्लजात—
वैंगाणिजातीय — महाकुटुम्बम् ।
प्रेम — प्रयोगेण सुसंबबन्ध,
स्वकीयगेहेन समं स दक्षः ॥

बुद्धिशील चम्पालालजी के प्रेम के कारण श्रेष्ठिवर्य श्री जीवनमलजी बेंगानी के गौरवशील परिवार का उनके परिवार के साथ विशेष सम्पर्क—सम्बन्ध स्थापित हो गया।

ओम्

अथ द्वितीय : सर्ग :

(१)

अथो दधाना वदना विशिष्टं,
गर्भं मुहूर्त्ते शुभयोगयुक्ते ।
पुत्रं पवित्रं पुतलीव गान्धिं,
स्वरूपरानीव जवाहरं स्वम् ॥

(२)

उमेव विघ्नार्त्तिहरं गणेशं,
पुत्रीव रामं कुशलेश्वरस्य ।
श्रीवर्द्धमानं त्रिशलेव वन्द्यं,
मायेव वा बुद्धमनन्तवीर्यम् ॥

(३)

प्राचीव तेजोनिलयं दिनेशं,
कल्पद्रुमं भूरिव देवतानाम् ।
सुमौक्तिकं शुक्तिरिवाद्वितीयं,
प्रासोष्ट सा सूनुमपूर्वमन्त्ये ॥

(४)

जगुः स्त्रियो मङ्गलगीतकानि,
नेदुर्महा — दुन्दुभयो गभीरम् ।
ऊचुः स्वरैर्मन्त्रविदोऽपि मन्त्रान्,
पेठुः सदाशीर्वचनानि विप्राः ॥

(१-३)

कवि प्रस्तुत महाकाव्य के नायक आचार्य श्री तुलसी के जन्म का वर्णन करता हुआ कहता है—

तत्पश्चात् शुभ योग युक्त मुहूर्त्त में गर्भ धारण करती हुई माता वदनां ने एक अद्वितीय व अपूर्व पुत्र को जन्म दिया, जैसे पुतली देवी ने गांधी को, स्वरूपरानी ने जवाहर को, पार्वती ने विघ्न व दुःख हरनेवाले गणेश को, कुशलेश्वर की पुत्री (कौशल्या) ने राम को, त्रिशला ने पूज्य महावीर को, माया देवी ने अनन्त शक्तिशाली बुद्ध को, पूर्व दिशा ने सूर्य को, देव-भूमि ने कल्प-वृक्ष को और सीप ने मोती को जन्म दिया।

(४)

स्त्रियाँ मंगल-गीत गाने लगीं। बड़े-बड़े नगाड़े गम्भीर नाद करने लगे। मन्त्रवेत्ता सस्वर मन्त्र-पाठ करने लगे और ब्राह्मण शुभ आशीर्वचन पढ़ने लगे—स्वस्ति-वाचन करने लगे।

(५)

वाता ववुः स्पर्शसुखा सुखानां,
तेपुर्ललाटं किरणा न भानोः।
स्वच्छा वभूवुर्नभसः प्रदेशाः,
वभुश्चतस्रोऽपि दिशः प्रसन्नाः ॥

(६)

अमूल्य — रत्नस्य परीक्षणाय,
परीक्षकाणामिव वालकस्य।
जातो जनुर्लग्न — विशोधनाय,
नैमित्तिकानां प्रचुरः प्रचारः ॥

(७)

अब्रूत जन्मग्रह — कोविदेषु,
कश्चिद् विपश्चिच्छपथं विधाय।
ग्रहाग्रहादेव विदेश — देश—
पूजां लभेताऽमितशक्तिशाली ॥

(८)

संचालयन् कश्चन तर्जनीं स्वां,
ज्योतिर्विदामग्रगतो वभाषे।
अयं मुनीनां भविताऽधिराजो,
वाले वयस्येव गृहं विहाय ॥

(५)

सुखों को सुखमय स्पर्श देनेवाली हवाएं चलने लगीं। सूर्य की किरणों ने ललाट को तपाना बन्द कर दिया। आकाश-प्रदेश स्वच्छ हो गये। चारों दिशाएं निर्मल हो गईं।

(६)

अमूल्य रत्न की परीक्षा के लिए जैसे रत्न-परीक्षकों—जौहरियों की भीड़ एकत्र हो जाती है, उसी प्रकार इस शिशु के जन्म का लग्न शोधने के लिए ज्योतिषियों की एक भीड़ जमा हो गई।

(७)

जन्म-ग्रह के विशेषज्ञों में से कोई एक शपथपूर्वक कहने लगा—ग्रहों का ऐसा आग्रह—प्रभाव है कि यह बालक अपरिमित प्रतापशाली होगा और देश-विदेश में सम्मान पायेगा।

(८)

ज्योतिषियों में कोई एक अग्रगण्य अपनी तर्जनी अंगुली को हिलाता हुआ यों बोला—यह बाल्य-अवस्था में ही गृह का परित्याग कर देगा और आगे चलकर मुनियों का अधीश्वर बनेगा।

(९)

कण्डूं विघर्षन् शिरसि स्वकीये,
एकोऽवदत् पण्डितमण्डितांघ्रिः।
पीत्वेति शास्त्राब्धिमगस्त्यरूपं,
धरिष्यते दिग्विजयं वितन्वन्॥

(१०)

अतर्कि कैश्चित् किमयं विवस्वान्,
आकाशतो भूमितलेऽवतीर्णः।
उक्तं परैर्नेति सहस्ररश्मि-
र्नामुष्य तेजो हि ललाटतापि॥

(११)

अन्यैर्वदान्यैरुदितं प्रकृत्या,
प्रतीयतेऽस्मिन् महिमा हिमांशोः।
परन्तु शून्यं शशलाञ्छनेन,
ब्रवीतु कोऽमुं विबुधः शशाङ्कम्॥

(१२)

बालाननं वीक्ष्य विधूपमानं,
व्यधायि थूत्कारविधिः पुराणैः।
विश्वस्य विश्वस्य न दृष्टिदोषो,
बाधिष्यतेऽमुं विकृतः कदापि॥

(९)

एक विद्वन्मान्य ज्योतिषी अपना सिर खुजलाता हुआ बोला—शास्त्ररूपी समुद्र का पान कर दिग्विजय करता हुआ यह अगस्त्य का रूप धारण करेगा। अर्थात् जिस प्रकार अगस्त्य ने समुद्र को पी लिया था, उसी प्रकार शास्त्र-पयोधि का पान कर यह दिग्विजयी बनेगा।

(१०)

किन्हीं ने तर्कणा की—क्या यह आकाश से पृथ्वी पर अवतीर्ण हुआ सूर्य है ? इस पर दूसरों ने कहा—यह सूर्य नहीं है क्योंकि इसका तेज ललाट को नहीं तपाता। अर्थात् यह सूर्य जैसा तेजस्वी तो है पर इसके तेज में परितप्त करनेवाली ऊष्मा नहीं है, एक सहज शीतलता है।

(११)

अन्य विद्वानों ने कहा कि इसके स्वभाव को देखते ऐसा प्रतीत होता है कि यह चन्द्रमा है। पर उन्होंने अपना स्वयं समाधान किया कि चन्द्रमा में तो शश (खरगोश) का चिह्न है (कलङ्क है), इसमें तो वह नहीं है। तब इसे चन्द्रमा कौन कहेगा ?

(१२)

पुराने विचारों के लोगों ने जब बालक का चन्द्रमा के तुल्य मुख देखा तो वे उसे ऐसा विश्वास करके थुत्कारने लगे, जिससे संसार का विकृत दृष्टि-दोष इसे बाधा न पहुँचा सके अर्थात् इसे किसी की नजर न लग जाए।

(१३)

पाप — ज्वरार्त्तिं परिहर्तुमर्ह-
स्तुल्यस्तुलस्या तुलसीति नाम्ना।
पुरोहितै — र्ज्योतिषि जातविज्ञै-
रलङ्कृतो ज्ञातभविष्यदर्थैः॥

(१४)

कुमारभृत्या — विदुरैर्भिषग्भि-
र्निदर्शितेनैव पथा व्रजद्भिः।
धात्रीजनै — र्जातविशेषहर्षै-
र्न्यषेवि बालो निजदेवतेव॥

(१५)

भुजद्वयाग्रेण निगृह्यमाणः,
स्त्रियः स्त्रियोऽङ्कं प्रणिपद्यमानः।
शिशुः स भास्वानिव राजते स्म,
दिशो दिशोऽन्तानवगाहमानः॥

(१६)

अन्तर्हितं कल्पलतादलेषु,
विवर्द्धमानं फलमेति बाह्यम्।
अन्तः — पुरान्मातृकराम्बुजेभ्यो,
बालस्तथाऽयं बहिराजगाम॥

(१३)

जिस प्रकार तुलसी ज्वर-वेदना को मिटा देती है, उसी प्रकार यह पाप रूपी ज्वर का उन्मूलन करनेवाला होगा, यह सोच ज्योतिषशास्त्र के पारगामी, भविष्यदर्शी पुरोहितों ने इसे "तुलसी" नाम से अलंकृत किया।

(१४)

शिशु-पालन की विद्या के विशेषज्ञ वैद्यों द्वारा बताये गये पथ पर चलने वाली धात्रियाँ अत्यन्त प्रसन्नता के साथ इस बालक की अपने देवता की तरह सेवा करने लगीं।

(१५)

इसे स्त्रियाँ अपने दोनों हाथों से अपनी-अपनी गोद में लेतीं। तब यह इस प्रकार सुशोभित होता, मानों सूर्य एक दिशा से दूसरी दिशा में जा रहा हो।

(१६)

कल्प-वल्ली के पत्तों में छिपा हुआ फल बढ़ने पर जैसे बाहर निकल आता है, उसी प्रकार यह बालक अन्तःपुर से माता के हाथों से निकल बाहर आने लगा।

(१७)

पितुः पितृव्यस्य पितामहस्य,
क्रोडे निषण्णोऽपि महाऽऽग्रहेण ।
धरातलायोपससर्प भावि-
विहारमारब्धुमिवार्हतानाम् ॥

(१८)

क्रीडारतः क्व तमसौ जहौ न,
धूल्याः गंधूसरितान्ननोऽपि ।
नीलाम्बुदैरावृतमण्डलः किं,
दिने दिनेशो विजहाति दीप्तिम् ॥

(१९)

संस्कारतो वंशपरम्परायाः,
साधूनबोधोऽपि मुदा ववन्दे ।
न जायते केवलशिक्षयैव,
हंसेषु दुग्धाम्बुविवेकधर्मः ॥

(२०)

तिष्ठन् निषीदन् निपतन् प्रगच्छन्,
प्राप्याप्य साफल्य — मनेकवारम् ।
गन्तुं प्ररेभे विकसन्मुखाब्जो,
नाग्रे गतौ यद् विरमन्ति धीराः ॥

(१७)

अपने पिता, पितृव्य और पितामह की गोद में बैठा हुआ यह बालक पृथ्वी पर आने का बहुत हठ करता, पृथ्वी पर सरकने का उपक्रम करता। ऐसा प्रतीत होता—यों कर यह मानों जैन श्रमणों के भावी विहार का अभ्यास कर रहा हो। (आगे इसे श्रमण जो बनना था।)

(१८)

खेल में धूल के कणों से मलिनमुख होते हुए भी यह कान्तिशून्य नहीं लगता था। क्या सूर्य कभी नीले बादलों से घिरा रहकर भी दिन में अपनी दीप्ति छोड़ देता है ?

(१९)

यह अबोध होते हुए भी साधुओं को बड़ी प्रसन्नता के साथ वन्दन करने लगा, यह इसकी वंश-परम्परा के संस्कार का ही प्रभाव था। क्योंकि हंसों में दूध और जल को पृथक् करने की शक्ति शिक्षा से नहीं आती। यह तो जातिगत संस्कारजा शक्ति है।

(२०)

चलना सीखने के उपक्रम में यह बालक कभी खड़ा होता, कभी बैठता, कभी गिरता, कभी चलता—इस प्रकार अनेक बार चलने में सफल होता, अनेक बार असफल। इस तरह इसने चलना आरंभ कर दिया। इससे इसका मुख प्रसन्नता से खिल उठा। यथार्थ ही है, धैर्यशील व्यक्ति आगे बढ़ने में कभी रुकते नहीं हैं।

(२१)

गतौ स नीत्वा विजयं क्रमेण,
जयध्वनिं स्वक्रमकिङ्किणीभिः।
अश्रावयत् पान्थजनांस्तदीयं,
विलोक्य रूपं चकिताक्षियुग्मान् ॥

(२२)

नखेषु ताम्रं दशनेषु रूप्यं,
केशेषु लोहं त्वचि जातरूपम्।
विभावयामास समासरूपाद्,
भविष्यति त्यक्तुमिमान् स धातून् ॥

(२३)

वक्षो विशालं नयने विशाले,
बाहू विशालौ विततो ललाटः।
ओष्ठौ च बिम्बप्रतिबिम्बरूपा-
वसाधयंस्तं पुरुषोत्तमैकम् ॥

(२४)

विज्ञाय विद्याग्रहणाय योग्यं,
विद्यालयेऽयं पितृभिर्न्यवेशि।
अध्यापकानां हृदि कौतुकाय,
प्राग्जन्मसिद्धा प्रतिभाऽस्य जाता ॥

यह बालक क्रम से चलने में विजय—सफलता पाकर अपने पैरों की पैंजनियों का जय शब्द उन राहगीरों को सुनाता, जिनके नेत्र इसके रूप को देखकर आश्चर्य-चकित थे।

(२२)

लालिमा के कारण नखों में ताम्र, श्वेतपन के कारण दाँतों में रजत, कालिमा के कारण बालों में लोह, गौरत्व के कारण त्वचा में स्वर्ण—इस प्रकार इस बालक ने अनेक धातुओं को मानों सामुदायिक रूप में अपने शरीर में ही सन्निहित कर लिया। क्योंकि भविष्य में तो इसे इन सब धातुओं का परित्याग करना था।

(२३)

विशाल वक्षःस्थल, विशाल नेत्र, विशाल भुजाएँ, चौड़ा ललाट, बिम्ब फल के समान ओष्ठ—इस बालक की यह आंगिक उत्कृष्टता सिद्ध करती थी कि यह कोई महान् पुरुष है।

(२४)

पढ़ने योग्य जान इसे अभिभावकों ने विद्यालय में प्रविष्ट कराया। इसकी जन्म-जात प्रतिभा को देख अध्यापकों के मन में बड़ा कुतूहल उत्पन्न होता।

(२५)

अन्तोद्भवो राशिरिव प्रवाहाद्,
विद्या स्वयं निर्झरति स्म कोष्ठात् ।
मार्गे कृते किञ्चननाममात्रे,
गुरूत्तमैरस्य शिशूत्तमस्य ॥

(२६)

छात्रैरपात्रैरपि तद्गुणानां,
सहैव विद्याध्ययनं स चक्रे ।
तारागणै — रस्वगुणैरुपेतः,
स्थितः सुधांशुर्गगनाङ्गणे यत् ॥

(२७)

भवन्त्यतुल्याः सहपाठिनोऽपि,
रामेषु गण्या अपि रावणेषु ।
यत्रैव सिन्धौ सुसुधाऽजनिष्ट,
तत्रैव वा कुत्सितकालकूटः ॥

(२८)

विनाऽगसा सागर — सोदरेण,
विगर्हितः क्रूरगिरा यदैषः ।
चम्पादिलालो निगृहीतपक्षो,
निराचकाराऽस्य समस्तदोषान् ॥

(२५)

उत्तम गुरुजन द्वारा केवल नाम मात्र मार्ग-दर्शन किये जाने पर ही इस बालक के कोष्ठ से—अन्तरतम से विद्या उसी प्रकार झरने लगी, जिस प्रकार अनाज के कोठे में थोड़ा-सा मार्ग कर देने पर अन्न-राशि अपने आप उससे बाहर आने लगती है।

(२६)

यह बालक, जिसके समान कोई दूसरा छात्र नहीं था, अनेक सामान्य छात्रों के साथ विद्याध्ययन करता रहा। जैसे चन्द्रमा अपने जैसे गुणों के न होने पर भी तारागण के साथ आकाश में निवास करता ही है।

(२७)

सभी सहपाठी एक जैसे नहीं होते। कई राम के तुल्य होते हैं तो कई रावण के तुल्य। समुद्र में जहाँ उत्तम अमृत उत्पन्न हुआ, वहाँ निकृष्ट कालकूट विष भी।

(२८)

ज्येष्ठ बन्धु चम्पालालजी का इनके प्रति कितना अधिक स्नेह था, इसे व्यक्त करने के लिए कवि इस पद्य द्वारा बाल्यकाल की एक छोटी-सी घटना प्रस्तुत करता है—

जब एक बार बिना किसी अपराध के भाई सागरमलजी ने इसे कड़े शब्द कह तिरस्कृत किया, तो चम्पालालजी ने इसका पक्ष लिया और इसके सब दोषों का निराकरण कर दिया।

वन्धुश्चतुर्थोऽयममुष्य नित्यं,
लघीयसः स्वस्य सहोदरस्य ।
चिवर्द्धयामास मनोऽतिहर्षं,
विशेषतो लालनपालनेन ॥

चौथे भाई चम्पालालजी अपने इस छोटे वन्धु को विशेष रूप से लालित-पालित करते हुए इसके मन को अधिकाधिक हर्षान्वित रखते थे।

ओम्

अथ तृतीय : सर्ग :

(१)

धराऽधरं चुम्बति धर्मभर्त्तरि,
काले पुराणेऽजनि शान्तिसन्ततिः ।
जीवा जिजीवुः सकला निरामयाः,
न वा बबाधे बलवान् सुनिर्बलम् ॥

(२)

तपस्यया तर्जितकामकामनो,
मेने जनो मातृसमां परस्त्रियम् ।
क्षमाऽम्बुना क्रोधकृशानुवारणात्,
परस्परप्रेमवनानि नादहन् ॥

(३)

निहत्य हृद्वेश्मनि लोभतस्करं,
चक्रुर्न केचित् परवित्तवञ्चनम् ।
नात्मानमन्तर्भव — मोहमुद्गरा-
दचूर्णयन् केऽपि ममेतिमारकाः ॥

(४)

ज्ञात्वाऽपि विद्यां बहुधाऽधिभौतिकी-
मगाधतारापथ — पारगामिनीम् ।
आध्यात्मिकीमेव सिषेविरेतरां,
समस्तविद्याप्रमुखां शिवप्रदाम् ॥

जैन परम्परा के एतद्युगीन प्रवर्तक भगवान् महावीर का वर्णन करने का अभिप्रेत लिये कवि पहले उनसे पूर्व की परिस्थिति का दिग्दर्शन कराता है :—

(१)

जब धर्मरूपी पति पृथ्वीरूपी पत्नी के अधर का चुम्बन करता था, शान्ति रूपी सन्तति उत्पन्न होती थी अर्थात् पृथ्वी धर्म द्वारा शासित थी, सर्वत्र शान्ति परिव्याप्त थी; उस समय समस्त प्राणी-वर्ग नीरोग थे—रोग और दुःख वर्जित थे। बलवान् दुर्बल को नहीं सताता था।

(२)

तब लोग तपस्या द्वारा कामेच्छा का शमन करते थे। परस्त्री को माता के समान मानते थे। क्षमा के जल से क्रोध की अग्नि को शान्त करते थे, जिससे प्रेमरूपी वन नहीं जलते थे। अर्थात् सर्वत्र सौहार्द की भावना परिव्याप्त थी।

(३)

हृदयरूपी घर में लोभरूपी चोर का हनन करके दूसरों के धन का कोई अपहरण नहीं करते थे। उस समय ममता—आसक्ति को मारनेवाले व्यक्ति अन्तरतम में उत्पन्न होनेवाले मोहरूपी मुद्‌गर से अपनी आत्मा का चूर्णन—भञ्जन—आत्म-गुणों का घात नहीं करते थे।

(४)

अनेकविध आधिभौतिक विद्याएँ, जिनसे निःसीम आकाश को पार कर लेने तक की क्षमता व्यक्ति पा चुका था, जानकर भी उस समय विद्वज्जन आध्यात्मिक विद्या का ही विशेषतः अनुशीलन करते थे। उसे वे सब विद्याओं में प्रमुख मानते थे और कल्याणकारिणी भी।

(५)

आज्ञां पितॄणां तनयोऽभ्यमन्यत,
शिष्यो गुरूणां पदपद्ममाश्रयत् ।
विहाय काऽपि स्वपतिं पतिव्रता,
कदापि नान्यान् पुरुषानवैक्षत ॥

(६)

विशोध्य भूमिं निदधुः पदद्वयं,
जीवानशेषान् स्वसमानमानयन् ।
व्रतैः कठोरैर्नियमैर्नियन्त्रितैः,
सर्वे स्वकीयान् दिवसानयापयन् ॥

(७)

अथाऽऽगताद् दुःसमयप्रभावतः,
शैथिल्यमापद्यत धर्मशासने ।
पाषण्डपाशं प्रणिपात्य पापिनः,
प्रतारयामासुरसंख्य — पूरुषान् ॥

(८)

हिंसाऽपि धर्मार्थमहिंसया समा,
विरुद्धराद्धान्तमिति प्रचारयन् ।
अमोघ — संघोऽतत दुष्टदम्भिना-
मधर्मिणां सद्व्रतिवेषधारिणाम् ॥

(५)

तब पुत्र पिता की आज्ञा मानता था। शिष्य गुरु के चरण-कमलों का आश्रय लिये था। कोई भी पतिव्रता स्त्री अपने पति को छोड़कर कभी भी पर-पुरुष की ओर आंख उठाकर नहीं देखती थी।

(६)

तब लोग भूमि का विशोधन—संप्रमार्जन करके अपने दोनों पैर रखते थे। सब प्राणियों को अपने समान समझते थे। कठोर व्रतों से बँधे हुए नियमों का अनुवर्तन करते हुए अपना समय बिताते थे।

(७)

इसके अनन्तर विपरीत काल आया। उसके प्रभाव से धर्म-शासन में शिथिलता व्याप गई। पापी जन पाखण्ड का जाल फैलाकर असंख्य मनुष्यों को प्रतारित करने लगे।

(८)

तब दुष्ट दम्भी जनों का, जो वस्तुतः अधार्मिक थे पर जिनका वेष सद्-व्रतियों जैसा था, एक ऐसा दृढ़ संघ बन गया, जो यह प्रचार करने लगा कि धर्म के लिए की गई हिंसा भी अहिंसा के समान है।

(९)

तुच्छं तृणं निर्गिलतां निरागसां,
छेदात् पशूनामतिरक्तधारया ।
महारया काऽप्यवहत् तरङ्गिणी,
मोक्षाय निर्मापितयज्ञचत्वरे ॥

(१०)

धर्म्माय निर्माय मनोज्ञमन्दिरं,
तत्रादिताऽजस्र — मजावलीबलिम् ।
जघास मांसं मदिरां मुदा पपौ,
जहास हा सद्गुरुभाषिते जनः ॥

(११)

वाचालसंचालितसंसदः स्थले,
संख्या जनानां ववृधे विशेषतः ।
अनादरोऽजायत साधु — संगमे,
मुक्त्वा मणिं काचमुपासते स्म ते ॥

(१२)

अधर्म्मिणैवं ध्रुवधार्मिके जने,
आक्राम्यमाणे हरिणेव गोत्रजे ।
अवातरद् भारतवर्ष — भूतले,
श्रीवर्द्धमानोऽन्तिम—तीर्थकृत्तमः ॥

(९)

तब मोक्ष के लिए रचित यज्ञ-वेदियों में मारे जाते तृणोपजीवी, निरपराध पशुओं के रक्त की सरिता वेग के साथ बह चली थी।

(१०)

तब धर्म के लिए सुन्दर मन्दिर बनाकर वहाँ निरन्तर बकरों की बलि दी जाती थी। लोग आनन्द से मांस खाते, मदिरा पीते और सद्गुरुओं के भाषण (उपदेश) की हँसी उड़ाते थे।

(११)

तब वातूनी लोगों द्वारा संचालित सभा-स्थलों में लोगों की संख्या विशेषरूप से बढ़ती थी। साधुजनों की संगति के प्रति लोग अनादर-भाव दिखाते थे। ऐसी स्थिति बन रही थी कि लोग मानों मणि को छोड़ काच को स्वीकार करने लगे थे।

(१२)

जिस प्रकार सिंह गोसमूह पर आक्रमण कर देता है, उसी प्रकार उन दिनों अधार्मिकों द्वारा धार्मिक जनों पर आक्रमण हो रहा था अर्थात् अधार्मिक लोग धार्मिकों को उत्पीडित कर रहे थे। तब भारत भूमि में अन्तिम तीर्थंकर श्रीवर्द्धमान का आविर्भाव हुआ।

(१३)

देवा विमाने विमले विराजिता,
व्यकारिषुः शुभ्रसुमानि पुष्करात् ।
हर्षप्रकर्षा — ज्जिनजातजन्मतो,
लोकत्रये दुन्दुभयोऽनदन् स्वयम् ॥

(१४)

जगन्नियन्तु — र्जननप्रभावतः,
श्रद्धाय तन्मातरि मातरिश्वना ।
सद्योऽपनेतुं प्रसवोद्भवं श्रमं,
निजः प्रवाहः सुखदः प्रसारितः ॥

(१५)

तपेन्न तिग्मैस्तपनो मरीचिभि-
रेवं विचार्यैव पुलोमजापातः ।
पयोदवृन्दै — श्चलैरचीकरत्,
छायां विलम्बेन विना मनोहराम् ॥

(१६)

अजीजनज्जीवयितुं जगज्जनान्,
धन्यानि धान्यानि वरोर्वरा मही ।
प्राणान् पशूनामपि पातुकाम्यया,
घासान् सुरुच्यान् चरणाय चोचितान् ॥

(१३)

जिनेश्वर महावीर के जन्म से अत्यधिक हर्षित हुए देवगण सुन्दर विमानों पर आरूढ़ हुए और आकाश से पुष्प-वृष्टि करने लगे। तीनों लोकों में दुन्दुभियाँ बजने लगीं।

(१४)

जगत् को सन्मार्ग की ओर ले जानेवाले भगवान् महावीर के जन्म से प्रभावित होकर वायु ने उनकी माता के प्रति श्रद्धा दिखाते हुए उनकी प्रसवजन्य श्रान्ति दूर करने के लिए अपना सुखप्रद प्रवाह प्रसारित किया।

(१५)

सूर्य अपनी तेज किरणों से न तप पाए, यह सोच इन्द्र ने शीघ्र ही बादलों को स्थिर कर मनोहर छाया कर दी।

(१६)

तब श्रेष्ठ उर्वर भूमि ने जगत् के मनुष्यों को जीवित रखने के लिये उत्तम धान्य उत्पन्न किये। पशुओं के प्राणों की रक्षा के निमित्त उनके चरने के लिए रुचिकर घास उत्पन्न किये।

(१७)

फलप्रसूतावपि पादपावली,
जाता परेभ्यो बहुशोऽग्रगामिनी।
प्लवङ्गमास्तत्र विहङ्गमा अपि,
प्रालप्सत प्रस्तुतभव्यभोजनम् ॥

(१८)

राजन्यजः काश्यपगोत्रसम्भवः,
स त्रैशलेयः सहजातसम्पदः।
समाप्य वर्षाणि गृहेऽष्टविंशतिं,
संसारसंसर्ग — मसारमैक्षत ॥

(१९)

मातुः पितुः स्वर्गमनादनन्तरं,
कृतश्रमं तं श्रमणत्व — हेतवे।
बह्वाग्रहादग्रज — नन्दिवर्द्धनो,
वर्षद्वये रोधयितुं क्षमोऽभवत् ॥

(२०)

भोगीव भोगो विवृताननो दशे-
दित्थं स तत्याज तदीयवासनाम्।
नाऽपक्व — पानीयमपावनं पपौ,
चक्रे कदाचिन्न च रात्रिभोजनम् ॥

(१७)

वृक्ष-समूह फल पैदा करने में दूसरों से बहुत आगे बढ़ गया। अर्थात् वृक्षों ने प्रचुर फल उत्पन्न किये। बन्दर और पक्षी गण वहाँ फलों के रूप में प्रस्तुत सुन्दर भोज्य पाने लगे।

(१८)

क्षत्रिय जाति के अन्तर्गत कश्यप गोत्र में उत्पन्न, त्रिशला के पुत्र भगवान् महावीर, जो मानों सब सम्पदाएँ साथ लेकर जन्मे थे, गृह-वास में अट्ठाईस वर्ष समाप्त कर संसार के संसर्ग को असार समझने लगे।

(१९)

माता-पिता का स्वर्ग-वास होने के अनन्तर उन्होंने श्रामण्य-दीक्षा अंगीकार करने का बहुत प्रयत्न किया पर अपने बड़े भाई नन्दिवर्द्धन के अत्यधिक आग्रह के कारण उन्होंने दो वर्ष और गृह-वास में रहना स्वीकार किया।

(२०)

भोग मुँह फाड़े हुए सांप की तरह डस लेगा, यह सोच उन्होंने भोग-वासना का परित्याग कर डाला। उन्होंने कच्चा, अपवित्र जल नहीं पीया और न कभी रात्रिभोजन ही किया।

(२१)

अन्तःस्थिता तस्य मुनित्व—कामना,
त्रिंशत्तमेऽब्दे स्वयमेव भासिता।
आश्वेव काष्ठे स्थित आशुशुक्षणि-
र्ज्वलत्यवश्यं समये समागते॥

(२२)

पापानि कार्याणि मया कदापि न,
दुःसाध्यया सार्धमिति प्रतिज्ञया।
निष्क्रम्य गेहाद् विहितात्मवञ्चनाद्,
मोक्षाभिकाङ्क्षी मुनितामशिश्रियत्॥

(२३)

शान्त्याश्रितो द्वादशवर्षमात्रया,
घोराण्यमोघानि तपांसि तप्तवान्।
भावं मुनेर्मौनमुपाश्रयन्नयं,
स्वजीवनं यापयति स्म पावनम्॥

(२४)

श्रीमन्महावीर इति स्वसंज्ञया,
सोऽर्हन् जिनो देशविदेशविश्रुतः।
मनोवपुर्भ्यामपि धर्म — साधनं,
व्यधात् सुधीः केवलयैव नो गिरा॥

(२१)

मुनि बनने की उनकी अन्तः स्थितभावना तीसवें वर्ष में स्वयमेव उद्बुद्ध हो उठी, जैसे काष्ठ में स्थित अग्नि अवसर पाकर तत्क्षण जल उठती है।

(२२)

'मैं कभी भी पापाचरण नहीं करूँगा'--इस प्रतिज्ञा के साथ वे आत्मा को प्रवञ्चना में डालनेवाले घर (गार्हस्थ्य) से निकलकर मोक्ष की अभिलाषा लिये साधु हो गये।

(२३)

वे शान्तिपूर्वक बारह वर्ष तक घोर, अमोघ तप करते रहे। मौन, जो मुनि का सहज स्वरूप है, स्वीकार कर पवित्र जीवन बिताने लगे।

(२४)

वे महावीर, जिन, अर्हन् आदि नामों से देश-विदेश में प्रख्यात हो गये। वे केवल वाणी से ही नहीं, मन और शरीर से धर्म की साधना में निरत थे।

कीटैरसंख्यैः — मशकैरशङ्कितै-
र्दष्टोऽपि वस्त्राभरणैरनावृतः ।
स्नातः शरीरस्तुतरक्तधारया,
नायं न्यचालीदचलातलासनात् ॥

(२६)

महोद्धतैर्ग्रामटिका — निवासिभि-
र्बालैर्विकुक्कायित— कृत्स्नकुक्कुरः ।
क्रूरात्मनां गालिगिरं गिलन्नपि,
न ध्यानधेनोर्धयनान्न्यवर्तत ॥

(२७)

भूमौ जलेऽग्नावनिले वनस्पतौ,
जीवास्तितां सर्वजनानबोधयत् ।
धर्मो दयायामिति मात्रहेतुना,
दयां विधातुं सकलेषु जन्तुषु ॥

(२८)

द्वेषस्य रागस्य विना न संक्षयाद्,
जीवो विमुक्तो भवतीति निर्णयात् ।
वैराग्यमेवोत्तम — मुक्तिकारणं,
कायेन वाचा मनसाऽप्यसेवत ॥

(२५)

उनके शरीर पर वस्त्र नहीं थे, आभरण तो थे ही कहाँ। अतः असंख्य कीड़े और निःशङ्क मच्छर उन्हें काटते थे। रक्त से निकली रक्त की धारा से मानों वे नहा गये। फिर भी पृथ्वी-तल पर लगाये अपने आसन से जरा भी विचलित नहीं हुए।

(२६)

यद्यपि छोटे छोटे गाँवों के उद्धत बालकों ने उनको कुत्ते भौंकाये, दुष्ट लोगों ने उन्हें अपशब्द कहे पर वे ध्यानरूपी धेनु का दूध चूंघने से हटे नहीं अर्थात् इस प्रकार अनेक विघ्नों और बाधाओं के बावजूद भी वे ध्यान-निरत रहे।

(२७)

धर्म दया में है अतएव सब जीवों के प्रति लोगों में दया-भावना भरने के लिए उन्होंने बताया कि पृथ्वी, जल, अग्नि वायु और वनस्पति—इन सबमें जीव का अस्तित्व है।

(२८)

द्वेष और राग का क्षय हुए बिना जीव मुक्त नहीं होता, इस निर्णीत तथ्य के लिये वे मुक्ति के उत्कृष्ट हेतु वैराग्य का शरीर, वचन और मन से पालन करते रहे।

(२९)

अहिंसया शश्वदवैरसाधनः,
स ब्रह्मचर्येण पवित्रजीवनः ।
पापस्य मूलं निरमूलयत्तरां,
पुनर्भवोत्पादककर्म — बन्धनम् ॥

(३०)

वैशाखमासे शुभशुक्लपक्षके,
तिथौ दशम्यां प्रहरेऽन्तिमे सति ।
श्रेष्ठे मुहूर्त्ते विजये तथोत्तरा-
फाल्गुन्युपेते बहुवर्यंयोगके ॥

(३१)

ग्रामान्तिमे जम्भियनामके पुरे,
दिश्युत्तरस्या — मृजुबालिकातटे ।
गाथापतेः श्यामकनामधारिणो,
भूमौ कुपेर्व्यावृतचैत्यपार्श्वतः ॥

(३२)

विशालशालस्य तरोरधः स्थले,
ईशानकोणं प्रति संमुखाननः ।
गोदोहिकासंज्ञक आसने स्थितः
आतापनां स्माद्रियतेंऽशुमालिनः ॥

(२६)

वे निरन्तर अहिंसा के परिपालन से सब प्राणियों के प्रति निर्वैर होगये थे। ब्रह्मचर्य से उनका जीवन पवित्र था। उन्होंने पाप के मूल तथा पुनर्जन्म देनेवाले कर्म-बन्धन को ही काट डाला।

(३०-३२)

वैशाख मास, शुक्ल पक्ष, दशमी तिथि के अन्तिम प्रहर में जब श्रेष्ठ मुहूर्त्त था और उत्तरा फाल्गुनी सहित उत्तम विजय योग था, जम्भियग्राम नामक नगर में, उत्तर दिशा में, ऋजुबालिका नदी के तट पर, श्यामक नामक गाथापति की कृषि-भूमि में, व्यावृत चैत्य के पास, विशाल शाल वृक्ष के नीचे, ईशान कोण की ओर मुँह करके गोदोहिका नामक आसन में संस्थित होते हुए वे (भगवान् महावीर) सूर्य की आतापना ले रहे थे।

(३३)

दिनद्वयस्योत्तम — निर्जले व्रते,
ध्याने सुशुक्ले च विलीयमानके।
उत्कर्षता ध्यानगता न्यवर्द्धत,
श्रेणी ततोऽन्ते क्षपका समागता ॥

(३४)

उत्क्रान्तरूपो भगवानजायत,
तस्मिन् क्षणे स्वात्मविकाससंभवाम्।
तत्राष्टमीं वा नवमीं च भूमिकां,
चकार पारं दशमीं तथैव सः ॥

(३५)

तस्मिंस्ततो द्वादशभूमिकां गते,
तन्मोहबन्धः सकलांशतोऽनशत्।
स वीतरागः कथितस्त्रयोदश-
सुभूमिकाद्वार — मपोत्यनावृतम् ॥

(३६)

ज्ञानावृते — दर्शनमोहनावृते-
र्नष्टान्तरायस्य समस्तबन्धता।
अनन्तकज्ञान — मनन्तदर्शन-
मनन्तवीर्यम्प्रति सोऽधिपोऽभवत् ॥

(३३)

दो दिनों का निर्जल उपवास था। शुक्ल ध्यान में वे विलीन थे। उनके ध्यान का उत्कर्ष बढ़ता गया और तब उन्हें क्षपक-श्रेणी प्राप्त हो गई।

(३४)

अब वे उत्क्रान्त-रूप हो गये। उसी क्षण उन्होंने अपनी आत्म-शुद्धि से प्रसूत आठवीं, नौवीं और दशवीं भूमिका को पार कर लिया।

(३५)

इसके अनन्तर बारहवीं भूमिका में पहुँच जाने पर उनके मोह का बन्धन सम्पूर्णतः नष्ट हो गया। तब उनकी तेरहवीं भूमिका का भी द्वार खुल गया और वे वीतराग कहलाने लगे।

(३६)

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय के समस्त बन्धनों के नष्ट हो जाने पर वे अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य और अनन्त सुख के प्रभु बन गये।

(३७)

सर्वज्ञतां प्राप्य समस्तवस्तुषु,
ददर्श लोकान् स करस्थितानिव ।
तत्साधनायाः समयः समाप्तवान्,
मर्यादिकां प्राप स सिद्धिकालजाम् ॥

(३८)

अजायताद्यं जिनदेव — भाषणं,
संसत्स्थले नाकसदां परन्त्वभूत् ।
तन्निष्फलं बीजमिवोपरक्षितौ,
विलासिनोऽसंयमिनो हि ते सुराः ॥

(३९)

ग्रामान्तिमाज्जृम्भियनामकात् पुरात्,
कृत्वा विहारं भगवान् जिनेश्वरः ।
पावापुरीमागतवान् स मध्यमां,
यत्रावसत् सोमिलनामभूसुरः ॥

(४०)

क्रतौ कृते तेन विशालरूपत-
स्तत्राभवद् वेदविदां समागमः ।
तेष्विन्द्रभूतिप्रमुखा मुखाग्रजाः,
एकादशाथ प्रमिताः समाययुः ॥

(३७)

सर्वज्ञत्व प्राप्त कर वे समस्त लोकों को कर-तल-स्थित की तरह देखने लगे। उनकी साधना का यह एक विश्राम था। जहाँ उन्होंने सफलता की एक सीमा को पार किया।

३८)

भगवान् महावीर की प्रथम देशना देवताओं की सभा में हुई। परन्तु ऊपर भूमि में गिरे बीज की तरह वह निष्फल रही। क्योंकि देवता विलासी और असंयमी होते हैं।

३९)

भगवान् महावीर जम्भियग्राम नामक नगर से विहार कर बीच में स्थित पावापुरी नामक नगरीमें आये, जहाँ सोमिल नामक ब्राह्मण निवास करता था।

(४०)

उस सोमिल ब्राह्मण ने एक विशाल यज्ञ आयोजित किया। जिसमें इन्द्रभूति आदि ग्यारह वेदविद् ब्राह्मण आये।

(४१)

निशम्य ते तज्जिनकीर्तिमुत्तमां,
तं जेतुकामा अगमंस्तदन्तिके।
जीवप्रसङ्गे बहुतर्ककर्कशान्,
वादान् व्यधुः पण्डितमण्डिताग्रयः ॥

(४२)

प्रश्नांस्तदीयान् हृदयस्थितानपि,
प्रच्छन्नरूपान् स विवेद सर्वज्ञः।
तेऽप्यद्भुतात्तत्प्रतिमा — प्रभावत-
स्तदीयपादाब्जयुगं समाश्रयन् ॥

(४३)

ववन्दिरे तं मृगराजसन्निभं,
ते च्छान्दसा गौतमगोत्रसम्भवाः।
तदीयसन्देहमृगो हृदन्तराद्,
वनान्तरालादिव दूरतोऽनशत् ॥

(४४)

षट्संख्यकां जीवनिकायसंभिदां,
पृथक् पृथक् पञ्च महाव्रतानि च।
स भावनाया अथ पञ्चविंशतिं,
तान् गौतमान् पात्रतमानुपादिशत्।

(४१)

भगवान् महावीर का विश्रुत यश सुनकर वे उन्हें जीतने की इच्छा से उनके पास आये। जिनके चरणों में अन्यान्य पण्डित नत थे, वे इन्द्रभूति प्रभृति विद्वान् जीव आदि के सम्बन्ध में कर्कश तर्क द्वारा वाद-विवाद करने लगे।

(४२)

भगवान् महावीर ने उनके मन में छिपे प्रश्नों को सम्पूर्णतः जान लिया, उनका समाधान किया। वे इन्द्रभूति आदि विद्वान् उनकी (भगवान् महावीर की) विलक्षण प्रतिभा से प्रभावित होकर उनके चरणों में गिर पड़े।

(४३)

उन गोतमगोत्रीय वेदविद् ब्राह्मणों ने सिंह के तुल्य भगवान् महावीर को वन्दन किया। जैसे मृग सिंह के आने पर वन से निकल भागता है, उसी तरह उनका सन्देह उनके हृदय से दूर हो गया।

(४४)

भगवान् महावीर ने उन्हें सर्वोत्तम पात्र जान जीव-निकाय के छह भेद, पाँच महाव्रतों के पृथक् पृथक् स्वरूप तथा पच्चीस भावनाओं पर उपदेश किया।

(४५)

ते बुद्धिमन्तो भगवत्प्रसादतः,
शिष्याः प्रधाना गणधारिणोऽभवन् ।
अद्यापि शास्त्रेषु तदीयनामतः,
प्रश्नोत्तरव्यापकता विलोक्यते ॥

(४६)

विद्याम्बुधिस्नातमगाध — धीधनं,
तमिन्द्रभूतिं गुणिगौतमोत्तमम् ।
उत्पाद वादस्य रहस्यमित्ययं,
श्रद्धास्पदस्त्वं भवसिद्धिलब्धये ॥

(४७)

श्रद्धा विरुद्धा हृदि यस्य जायते,
तदीयतत्त्वानि शुभाशुभान्यपि ।
भवन्त्यसम्यक् — परिणामहेतवे,
सर्वाणि तान्येवमवेक्ष्यतां बुधैः ॥

(४८)

श्रद्धाऽस्ति सम्यक्त्वविभाविता यदि,
तदीयतत्त्वान्यशुभान्यपि स्वतः ।
भवन्ति सम्यक् परिणामसिद्धये,
सर्वाणि तानीति विचार्यतां बुधैः ॥

(४५)

वे बुद्धिमान् शिष्य भगवान् के अनुग्रह से प्रधान शिष्य और गणधर पद को प्राप्त हो गये। आज भी शास्त्रों में उनके नाम से व्यापक रूप में प्रश्नोत्तर देखे जाते हैं।

(४६)

इन्द्रभूति, जो विद्या के समुद्र में अवगाहन किये हुए थे, अपार बुद्धि के धनी थे, को भगवान् महावीर ने वाद—तत्त्व-ज्ञान का यही रहस्य बतलाया कि तुम सिद्धि प्राप्त करने के लिए श्रद्धावान् बनो।

(४७)

विद्वानों को यह समझना चाहिए कि जिसके हृदय में विपरीत श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है, उसके शुभ, अशुभ सभी तत्त्व असम्यक् भाव में परिणत हो जाते हैं।

(४८)

विद्वज्जन विचार करें—यदि श्रद्धा सम्यक्त्व से युक्त है तो उसके अशुभ तत्त्व भी स्वतः सम्यक् भाव में परिणत हो जाते हैं।

(४६)

श्रद्धोद्भवं सुन्दरसौम्यसंवलं,
तर्कोद्भवं मार्मिकतार्किकं वलम् ।
नीत्वा जिनेशाद् गणधारिणां वराः,
प्रश्नान् स्वकीयान् सहजान् समादधुः ॥

(५०)

विज्ञाय विद्वज्जनदिग्गजानिमान्,
जिनोपदेशा — मृतपानकोत्सुकान् ।
अपूर्यताब्धिः सुनदै — रिवापरै-
स्तदर्हतः पण्डितशिष्यमण्डली ॥

(५१)

विरक्तिसंपोषित — योषितामपि,
प्रव्रज्यया संघविशेष — वृद्धितः ।
गन्धः सुवर्णे फलमिक्षुपुद्गतं,
मुख्या सती चन्दनवालिकाऽभवत् ॥

(५२)

आज्ञा प्रधाना जिनशासनेऽजनि,
न शासनं क्वापि विनाऽनुशासनम् ।
चतुर्दशोपेतसहस्र — साधवो,
व्यवस्थिता नाथनियोगयोगतः ॥

(४६)

गणधरों ने जिनेश्वर भगवान् से श्रद्धाजन्य सुन्दर संबल तथा तर्कजन्य मार्मिक तर्क-बल पाकर अपने सहज प्रश्नों का समाधान पाया।

(५०)

विद्वन्मूर्धन्य गणधरों को जिनेश्वर के उपदेशरूपी अमृत-पान में उत्सुक देख अन्य पण्डित गण भी भगवान् महावीर के विद्वान् शिष्य-मण्डल में सम्मिलित होने लगे। जैसे कि नद समुद्र में सम्मिलित हो जाते हैं।

(५१)

वैराग्यवती सन्नारियाँ भी प्रव्रजित हुईं, जिससे धर्म-संघ विशेष समृद्ध बना। ऐसा लगता है—मानो स्वर्ण में सुगन्धि व्याप गई हो और इक्षु-दण्ड में फल लग गया हो। साध्वीगण में प्रमुख सती चन्दनबाला थी।

(५२)

जिन-शासन में आज्ञा प्रधान मानी गई है। अनुशासन (आज्ञा) के विना शासन चल नहीं सकता। भगवान् महावीर के अनुशासन—निर्देशन में चौदह हजार श्रमण थे।

(५३)

षट्त्रिंशता त्र्याप्तसहस्रसंमिताः,
साध्व्योऽभवंस्तत्र पवित्रमानसाः ।
एकोनषष्ठीति सहस्रकाधिक-
लक्षस्थिताः श्रावकसज्जना वभुः ॥

(५४)

अष्टादशोपेत — सहस्रकाधिक-
लक्षत्रयी श्राविकयोपितामभूत् ।
चतुर्विधः संघवरोऽखिलास्वपि,
दिक्षु प्रसिद्धो नियतो दयामयः ॥

(५५)

पाञ्चालकम्बोज — कलिंगसिन्धुषु,
सौवीरकाशीकुरु — अङ्गकेष्वपि ।
गान्धार — बाह्लीकसुकोशलादिषु,
देशेषु नाना विहृतो जिनाधिपः ॥

(५६)

पावापुरे पावनभावने पुरे,
विरावयन् भक्तिभृतो महाजनान् ।
निर्वाणमेति स्म महाप्रदीपवन् ,
पापान्धकारस्य विनाशकृज्जिनः ॥

(५३)

उनके शासन में छत्तीस हज़ार साध्वियाँ थीं। एक लाख उनसठ हज़ार श्रावक थे।

(५४)

उसमें तीन लाख अठारह हज़ार श्राविकाएँ थीं। इस प्रकार यह अहिंसा-प्रधान चतुर्विध (साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका रूप) संघ सभी दिशाओं में प्रसिद्ध था।

(५५)

भगवान् महावीर ने पाञ्चाल, कम्बोज, कलिंग, सिन्धु, सौवीर, काशी, कुरु, जांगल, गान्धार, वाह्लीक, कोशल आदि देशों में विहार (पर्य्यटन) किया।

(५६)

पाप रूपी अन्धकार को मिटानेवाले भगवान् महावीर ने पवित्र भावना-मयी पावापुरी में भक्ति भरे मानव-समुदाय को रुलाते हुए महान् ज्योतिर्मय दीप की तरह निर्वाण प्राप्त किया।

ओम्

अथ चतुर्थ : सर्ग :

(१)

दृष्टेऽपि नेत्रैः सजलैरनेकै-
र्भक्तैर्गृहीतेऽपि पदारविन्दे ।
शिष्येषु सूत्राणि पठत्सु सत्सु,
प्रश्नांश्च पृच्छत्सु परेषु पुंसु ॥

(२)

अस्मान् विहायात्र परत्र माऽगाः,
कुर्वत्स्वपीत्थं बहुषु प्रलापम् ।
वासं विमुञ्चत्स्वपि गोकुलेषु,
वृक्षस्थपक्षिष्वपि रोरुवत्सु ।

(३)

अस्मद्वधं को भुवि रोत्स्यतीति,
सूक्ष्मेषु जीवेष्वपि चिन्तितेषु ।
मृगेषु मुक्त्वा वनधावनानि,
पश्चान्मुखीभूय चिरस्थितेषु ॥

(४)

क्षीणेषु कर्मस्विति माननीयः,
सेहे क्षणायाऽपि भुवि स्थितिं न ।
जाले विशीर्णे विहगो निबद्धो,
बलेन निर्गच्छति शीघ्रमेव ॥

(१-४)

अनेक लोग आँखों में आँसू भरे देख रहे थे, भक्तों ने चरण-कमल पकड़ रखे थे, शिष्यगण सूत्रों का पाठ कर रहे थे, अन्य मतावलम्बी मनुष्य प्रश्न पूछ रहे थे, 'हमें यहाँ छोड़ कर परलोक में न जाएँ'—बहुत से मनुष्य यों विलाप कर रहे थे, गायों ने घास चरना छोड़ दिया था, वृक्षों पर बैठे पक्षी रोने लगे थे, 'जगत् में हमारा वध कौन रोकेगा' सूक्ष्म जीव भी मानो यों विचार कर रहे थे, मृगों ने वन में दौड़ना छोड़ दिया था और वे पीछे मुख किये चिरकाल से खड़े थे—इन सब स्थितियों के बावजूद श्रद्धास्पद भगवान् महावीर कर्मों के क्षीण हो जाने पर क्षण भर भी पृथ्वी पर रहना सह नहीं सके। जिस प्रकार बँधा हुआ पक्षी जाल के टूट जाने पर शीघ्र ही बलपूर्वक निकल जाता है, उसी तरह ऐहिक जीवन से निकल वे अपने सर्वथा शुद्ध रूप में अधिष्ठित हो गये।

(५)

मुक्तिं गते श्रीमति वर्द्धमाने,
विनिर्मला धर्मपरम्पराऽस्य ।
सुधर्मजम्बूद्वय — केवलिस्थ-
संघे समास्थान्निरपेक्षरूपात् ॥

(६)

जातेषु चाचार्यपदेष्वतोऽग्रे,
स्वच्छन्दता प्रादुरभूत् क्रमेण ।
स्वच्छाभ्रतोयं मलिनत्वमेति,
निम्नागतं भूमि — सरःसरित्सु ॥

(७)

हित्वा विहारं मुनिमुख्यकृत्यं,
केचिद् बभूवुः कृतचैत्यवासाः ।
श्वेताम्बराः केपि दिगम्बराश्च,
स्वं स्वं मतं श्रेष्ठमुदीरयन्तः ॥

(८)

संजज्ञिरे स्थानकवासिनोऽन्ये
श्वेताम्बराम्नाय — निबद्धमूलाः ।
ते मूर्त्तिपूजां जिनशासनेन्दा-
वाहुः स्म रूपं शशलांछनस्य ।

(५)

भगवान् महावीर के मुक्ति चले जाने के पश्चात् उनकी विशुद्ध धर्म-परम्परा केवली सुधर्मा तथा तदनन्तर केवली जम्बू के संघ में निरपेक्ष रूप में चलती रही।

(६)

पश्चाद्वर्ती आचार्यों में क्रमशः स्वच्छन्दता बढ़ती गई। निर्मल मेघ का जल नीचे आकर पृथ्वी के तड़ाग और सरिताओं में मैला हो जाता है। वही स्थिति धर्म-संघ की अधःपात से थी।

(७)

विहार, जो मुनि का मुख्य कर्तव्य है, छोड़ कर कई श्रमण चैत्यों में वास करने लगे। कई श्वेताम्बर हो गये और कई दिगम्बर। वे सब अपने अपने मत को श्रेष्ठ कहने लगे।

(८)

श्वेताम्बर-संप्रदाय में से कुछ स्थानकवासी हो गये जो मूर्ति-पूजा को जिन-शासन रूपी चन्द्रमा में मृग-लाञ्छन का प्रतीक बताने लगे।

(९)

जैनागमाज्ञा — विपरीतरीत्या,
तत्तन्निवासाय विनिर्मितेषु ।
ते स्थानकेषु न्यवसन् सुखाय,
सर्वर्तुयोग्येषु महोत्तमेषु ॥

(१०)

एवं प्रभूते समये व्यतीते,
संघे तदीये बहुवर्द्धमाने ।
बभूव कश्चिद् रघुनाथसंज्ञः,
आचार्य एकः प्रथितप्रभावः ॥

(११)

शिष्यस्तदीयो मुनिरद्वितीयो,
विज्ञातसंघस्थित — सर्वदोषः ।
नीलाम्बुदान्निर्गत — भास्कराभः,
कश्चिच्चकाशे भुवि भिक्षुसंज्ञः ॥

(१२)

स कर्दमे कूर्दितदन्तिनेव,
पतत्त्रिणा संपततेव जाले ।
ग्रस्तेन तत्स्थानक — संप्रदाये,
स्वं स्वात्मना मुक्तिमना अमंस्त ॥

(९)

वे उनके रहने के लिए बनाये गये, सब ऋतुओं में वास करने योग्य, श्रेष्ठ स्थानकों में सुख से रहने लगे, जो जैन शासन की आज्ञा के प्रतिकूल था।

(१०)

इस प्रकार बहुत समय बीतता गया। उनका संघ बहुत बढ़ा। तब उसमें रघुनाथजी नामक एक प्रभावशील आचार्य हुए।

(११)

उनके एक भिक्षु नामक अप्रतिभ बुद्धिशाली शिष्य, जिन्होंने सब दोषों को जान लिया था, पृथ्वी पर इस तरह आ चमके, जैसे नीले बादलों से निकलकर सूर्य चमकने लगता है।

(१२)

मोक्षाभिलाषी भिक्षु ने उस संप्रदाय में ग्रस्त अपने आपको उस हाथी के तुल्य माना, जो कीचड़ में कूदा हुआ हो, उस पक्षी के समान माना, जो जाल में पड़ा हुआ हो।

(६३)

संघक्रियाया — मतिसंशयानो,
रात्रौ शयानोऽपि स नो निद्रो।
तत्रोद्धतान् साधुविधीन् विरुद्धान्,
दृष्ट्वा तदीयं विचचाल चित्तम् ॥

(६४)

अहो अहं सर्व — सुखान्युपेक्ष्य,
मोक्षाय दीक्षाममलामलप्सि।
शास्त्राद् विरुद्धा विधयस्तथापि,
सेव्या मया पापमयाः किमत्र ॥

(६५)

एवं विचार्यैव विचारशीलः,
संघस्य नाथं रघुनाथसेपः।
जवेन जैनागमसागमय्य,
शङ्कां समाधातुमुपाजगाम ॥

(६६)

बद्ध्वाञ्जलिं नीत — विनीतभावो,
विधाय सम्यग् गुरुवन्दनादिम्।
अजस्रमालोडितशास्त्र — सिन्धु-
स्वाद सोऽवादधिया मनस्वी ॥

(१३)

उन्हें उस संघ के क्रिया-कलाप में संशय होने लगा। वे रात में सोने का उपक्रम करते पर उन्हें नींद नहीं आती। साधु-जीवन में विपरीत और अव्यवस्थित विधिक्रम को देख उनका मन विचलित हो उठा।

(१४)

मैंने सब ऐहिक सुखों की उपेक्षा कर मोक्ष के उद्देश्य से निर्मल दीक्षा स्वीकार की। तब क्या मैं यहाँ शास्त्र-विरुद्ध, सावद्य विधिक्रम का सेवन करूँ ?

(१५)

विचारशील भिक्षु यों सोचकर जैन आगमों को साथ में ले अविलम्ब संघ के अधिपति रघुनाथजी के पास अपनी शंकाओं का समाधान पाने के लिए आये।

(१६)

जिन्होंने अनवरत शास्त्र-समुद्र का मन्थन किया था, वे भिक्षु विनम्र भाव लिये गुरु को हाथ जोड़, भली-भाँति वन्दन कर वाद-विवाद की भावना के बिना—जिज्ञासु भाव से बोले—

(१७)

आचार्य ! चित्ते मम साधुसंघ-
क्रियोपदेशादि — विधिप्रसंगे ।
शङ्का अजायन्त परे कियन्तः,
ऊर्ध्वं मयाऽतो दिवसा अपेक्ष्याः ॥

(१८)

दानं दयां स्थानक — साधुवास-
मासाद्य भिक्षुप्रतिपादितायाः ।
संपर्कतोऽकर्कशतर्क — युक्ते-
र्निम्नाननीभूय गुरुर्जगाद ॥

(१९)

भिक्षो ! सदिच्छो ! वचनं तवैतद्,
विभाव्यते यद्यपि शास्त्रसिद्धम् ।
तथापि गण्या लघवो न दोषाः,
संख्यातिरिक्तेषु गुणेषु सत्सु ॥

(२०)

कदाप्यमुष्मिन् समये समाये,
न पाल्यते साधुविधिर्विशुद्धः ।
उपेक्ष्यतां छादितदोषवादो,
विचक्षणैस्तेन विलक्षणोऽपि ॥

(१७)

आचार्यवर ! मुझे साधु-संघ की आचार-परंपरा, उपदेश आदि के नियमों के सम्बन्ध में अनेक शंकाएँ हैं। अब मैं कितने दिन और प्रतीक्षा करूँ ?

(१८)

दान, दया, स्थानक में साधु का वास—इन विषयों को लेकर चर्चा चली। भिक्षु की कर्कशतारहित युक्तियों से गुरु का मुँह नीचा हो गया और वे कहने लगे—

(१९)

सद् आकांक्षाशील भिक्षु ! यद्यपि तुम्हारा कथन शास्त्र-सम्मत प्रतीत होता है, परन्तु जहाँ अगणित गुण हों, वहाँ थोड़े से दोषों की गणना नहीं करनी चाहिए।

(२०)

इस मायामय—छल-कपटयुक्त समय में विशुद्ध रूपमें साधु-चर्या नहीं पाली जा सकती, अतः छके दोष की विद्वानों को उपेक्षा करनी चाहिए, चाहे वह असाधारण ही क्यों न हो।

(२१)

सतीष्विह श्रावकमण्डलीषु,
सर्वेषु साधुष्वपि सत्स्विदानीम् ।
उद्घाटयन्नेव निजप्रदोषा-
नेतन्न वीक्ष्यावसरं त्वमीपि ॥

(२२)

मुखाद् गुरोः स्वर्णगिरेरयोग-
दुत्पद्यमानं वचनं निशम्य ।
उत्कर्षयन् स्वां भृकुटिं बभाषे,
श्वासेन तीव्रेण मुमुक्षुभिक्षुः ॥

(२३)

सर्वे वयं प्रव्रजिता यदर्थ-
मुत्क्षिप्य मूर्ध्नः परिवारभारम् ।
न दृश्यते तद् बत मुक्तिवर्त्म,
निःसृत्य गर्त्तात् पतिता हि कूपे ॥

(२४)

आचार्य! विच्छिद्य विनिन्द्य दोषान्,
गोपायितांश्च प्रकटांश्च सर्वान् ।
सता पथा वर्त्तय साधुसङ्घ-
मेक — स्त्वमेवोत्तरदायकोऽसि ॥

(२१)

यहाँ श्रावकगण उपस्थित हैं, सभी साधु यहाँ हैं, सबके समक्ष अपने ही दोषों को उघाड़ रहे हो। तुम्हारा यह कथन अवसरोपयोगी नहीं है।

(२२)

जब गुरु के मुँह से भिक्षु ने यह बात सुनी तो उन्हें लगा—मानो स्वर्ण-गिरि लोहा उगल रहा हो। मोक्षाभिलाषी भिक्षु की भृकुटि चढ़ गई, उनका श्वास तीव्र हो गया, और वे बोले—

(२३)

परिवार का भार शिर से हटाकर जिसके लिए हम दीक्षित हुए, वह मोक्ष का मार्ग मुझे यहाँ नहीं दीखता। प्रतीत होता है, हम गड्ढे से निकलकर कुएँ में गिर पड़े।

(२४)

आचार्यवर ! आप ही साधु-संघ के एकमात्र उत्तरदायी हैं। सब निन्दास्पद दोषों को, चाहे वे ढके हों या प्रकट हों, दूर करके साधु-संघ को सन्मार्ग पर प्रवर्तित कीजिए।

(२५)

एकोऽपि दोषो गुणसन्निपातं,
निःसंशयं लोपयितुं समर्थः ।
अर्कस्य दुग्धस्य हि बिन्दवोऽपि,
गोर्क्षीरपात्रं विदधत्यपेयम् ॥

(२६)

यः शुद्धधर्मः समये पुराणे,
स नाऽधुना मेति कदाप्यगादीः ।
प्रागिक्षवः किं मधुरा बभूवु-
रम्ला भवन्त्याधुनिकास्त एव ॥

(२७)

तर्कैरनेकै — र्विवशीकृतोऽपि,
न शोधयामास स सङ्घदोषान् ।
कलानिधिः स्वं विकलं कलङ्कं,
ज्ञात्वाऽपि दूरीकुरुतेऽधुना न ॥

(२८)

मोक्षैकवाञ्छो रघुनाथसंघं,
तत्याज तं च्छिद्रयुतं ततः सः ।
को नावि तिष्ठेत् सरितं तितीर्षु-
र्विलोक्यमाने प्रबले बिलेऽपि ॥

(२५)

एक भी दोष निःसन्देह गुणों के समूह को लुप्त कर डालता है। आक के दूध की मात्र थोड़ी-सी बूंदें सारे बर्तन में भरे गाय के दूध को अपेय बना देती हैं।

(२६)

जो शुद्ध धर्म प्राचीन काल में था, वह अब नहीं है, ऐसा कदापि न कहिए। क्या पूर्व काल में गन्ने मीठे होते थे और वे ही क्या अब खट्टे हो गये हैं?

(२७)

भिक्षु द्वारा प्रस्तुत अनेक तर्कों पर संघपति निरुत्तर थे पर उन्होंने अपने संघ-गत दोषों का शोधन नहीं किया। ऐसा लगता था—चन्द्रमा अपने दोषों को जानकर भी आज उन्हें छोड़ नहीं रहा है।

(२८)

एकमात्र मोक्ष के अभिलाषी भिक्षु ने तब रघुनाथजी के संप्रदाय को छिद्रयुक्त जान छोड़ दिया। नदी को पार करने की इच्छावाला क्या कोई मनुष्य उस नौका पर चढ़ेगा, जिसमें बड़ा सा छेद दिखाई दे रहा हो?

(२६)

नीत्वा स संगे चतुरोऽन्यसाधून्,
विनिर्गतः संमिलितास्ततोऽष्टौ ।
तत्संप्रदायस्य महोत्तमस्य,
ततोऽभवत् तेरहपन्थ नाम ॥

(३०)

त्रयोदश श्रा[illegible]सज्जना वा,
सामायिकं कर्म वितेनुरादौ ।
जाता ततः सर्वजनप्रसिद्धि-
र्भविष्यतस्तेरहपन्थ — नाम्नः ॥

(३१)

शिष्या भविष्यन्ति मदीयसंघे,
आचार्यवर्यस्य हि केवलस्य ।
इत्याज्ञया शिष्यपरम्परायाः,
परस्परस्थं कलहं व्यदारीत् ॥

(३२)

नियन्त्र्य नानानियमैः कठोरै-
राचार्यभिक्षुः सकलं स्वसंघम् ।
आचारशुद्धिं प्रथयन् प्रधानां,
सोऽस्थापयत् संगठने महत्त्वम् ॥

(२९)

चार और साधुओं को साथ लिये भिक्षु निकल पड़े, आठ पीछे आ मिले। इसलिए इस परम उत्तम संघ का नाम 'तेरापंथ' पड़ा।

(३०)

इसलिए भी इस नाम की सब लोगों में प्रसिद्धि हुई कि प्रारंभ में तेरह श्रावक सामायिक कर रहे थे।

(३१)

मेरे संघ में शिष्य केवल आचार्य के ही होंगे (पृथक् पृथक् साधुओं के नहीं), यह मर्यादा निर्मित कर शिष्य-प्रथा के कारण साधुओं में होनेवाले आपसी संघर्ष को विदीर्ण कर डाला।

(३२)

आचार्य भिक्षु ने अनेक प्रकार के कठोर नियमों से अपने सम्पूर्ण संघ को नियन्त्रित किया। आचार-शुद्धि को प्रधानता दी। संगठन का महत्त्व स्थापित किया।

(३३)

विपं विनाशाय सुधाऽऽयुषे च,
नाभ्यां परं भाति तृतीयवस्तु ।
पापाच्च धर्माच्च विना तृतीय-
स्तथेतरः कोऽपि न मिश्रधर्मः ।

(३४)

जीवन्ति जीवा इति नो दयाऽस्ति,
जीवा म्रियन्तेऽघमिदं न किञ्चित् ।
जीवान् न यो हन्ति स धार्म्मिकोऽस्ति,
तान् मारयेद् यः कथितः स पापी ॥

(३५)

धर्म्माय हिंसां कथयन्नहिंसां,
विलोकतेऽग्नावबुधो हिमानीम् ।
हिंसा तु सर्वत्र हि पापमूल-
महिंसया केवलयाऽस्ति धर्मः ।

(३६)

असंयतिभ्यो व्रतवर्जितेभ्यो,
दत्तं न दानं सुकृताय किञ्चित् ।
भुजङ्गमेभ्यो विषगर्वितेभ्यो,
हालाहलायैव पयःप्रदानम् ॥

(३३)

विष से मरण होता है और अमृत से आयु बढ़ती है। इनसे परे कोई भी तीसरी बात नहीं हो सकती। इसी तरह हिंसा से पाप होता है, अहिंसा से धर्म। इनके अतिरिक्त तीसरा कोई मिश्र-धर्म (अल्पपाप-बहुनिर्जरा) नहीं होता।

(३४)

जीव जीते हैं. यह दया नहीं है, जीव मरते हैं, यह कोई पाप नहीं। जो जीवों को नहीं मारता, वह धार्मिक है, जो उनको मारता है, वह पापी कहा गया है।

(३५)

जो धर्म के लिए की गई हिंसा को अहिंसा कहता है, वह अज्ञानी आग में बर्फ की कल्पना करता है। हिंसा तो सर्वत्र पाप को उत्पन्न करती है, धर्म केवल अहिंसा में है।

(३६)

व्रतशून्य असंयतियों को दिये गये दान से धर्म नहीं होता। विष से गर्वान्वित सर्पों को दूध पिलाना उनके विष को पनपाना है।

(३७)

जैनेतराणामपि सत्क्रियाभि-
श्छिद्येत ग्रन्थो निरवधिकाभिः ।
न कल्पते जीवनहेतवे किं,
देवाऽपराणा — ममृतप्रयोगः ॥

(३८)

इतिप्रकारान् स्वगतान् विचारान्,
जिनागमोक्तानुपदिश्य लोकान् ।
दम्भाम्बुदैरावृत — शास्त्रसूर्यं,
प्रभञ्जनीभूय समुद्दधार ॥

(३९)

आचार्यभिक्षोः समितेः समक्षो,
लेभे विपक्षो न निजं स्थिरत्वम् ।
तर्कप्रवाहे प्रबले प्रवृत्ते,
तुङ्ग्यापगाया गिरि — संभवायाः ॥

(४०)

पराजयं प्राप्य परोऽपरैश्च,
निन्दाऽस्त्रमुत्क्षेप्तुमसृड् विनिद्रः ।
न दर्शनीयो भुवि मन्यलोकै-
र्विगर्हितो भिक्षुरिति ब्रुवाणः ॥

(३७)

जो जैन नहीं हैं, उनकी भी निरवद्य, सत् क्रियाओं से उनके बन्धन टूटते हैं—उनका कर्म-निर्जरण होता है। क्या अमृत का प्रयोग उन्हें जीवन नहीं देता, जो देव नहीं हैं?

(३८)

इस प्रकार जैन आगम - सम्मत अपने विचारों का लोगों को उपदेश कर आचार्य भिक्षु ने दम्भ—आडम्बर-दिखावरूपी बादलों से ढके शास्त्ररूपी सूर्य का मानों वायु बनकर उद्धार कर दिया।

(३६)

जिस प्रकार गिरि संभवा—पर्वत से निकलनेवाली नदी के प्रबल प्रवाह के समक्ष कोई नहीं ठहर पाता, उसी तरह आचार्य भिक्षु की सभा में उनकी गिरि-संभवा—वाणी में अवतरित बुद्धिरूपी नदी के तर्करूपी प्रवाह के समक्ष कोई विपक्षी ठहर नहीं सका।

(४०)

कोई एक विपक्षी परास्त हो निन्दारूपी अस्त्र-प्रहार करने में अपनी जागरूकता दिखाने लगा। कहने लगा—इस निन्दनीय भिक्षु का जगत् में श्रेष्ठ लोगों को दर्शन भी नहीं करना चाहिए।

(४१)

नान्नं जलं नापि न वासभूमि-
र्वस्त्रं न पात्रं न न पुस्तकं च।
देयं कदाचिद् मुनिभिक्षवेऽस्मै,
रथ्यासु रथ्यास्वितरो जुघोष ॥

(४२)

विमोह्यते श्रावकसर्वसंघो,
मायाविनाऽनेन विना विलम्बम्।
निपीडिते — दन्तिभिरप्यमुष्य,
गन्तव्यमाकर्णयितुं न वाणीम् ॥

(४३)

अन्यैरितीर्ष्यालुभि — रुध्यमाने,
जाते तथाऽऽहारविहाररोधे।
झंझानिलेनेव गुरुर्गिरीणां,
जग्लौ न तत्तेरहपन्थनाथः ॥

(४४)

स पञ्चवर्षावधि — तृप्तिपूर्वं,
रूक्षान्नमप्याप न विघ्ननिघ्नः।
दुग्धं घृतं केवलमापणेषु,
विक्रीयमाणं वत तेन दृष्टम् ॥

(४१)

कोई एक दूसरा विपक्षी गली-गली में यों कहता फिरता—मुनि भिक्षु को अन्न, जल, ठहरने के लिए स्थान, वस्त्र, पात्र और पुस्तक कुछ भी नहीं देना चाहिए।

(४२)

यह भिक्षु मायावी—ऐन्द्रजालिक है। यह अविलम्ब श्रावक-समूह को बहका देता है। हाथियों द्वारा ढकेले जाने पर भी इसकी वाणी सुनने के लिए मत जाओ।

(४३)

और भी ईर्ष्यालु जन ऐसी ऐसी बातें कहते थे। उनके आहार-विहार में भी कठिनाइयाँ उपस्थित हुईं। पर तेरापंथ के अधिष्ठाता आचार्य भिक्षु जरा भी ग्लान नहीं हुए, डगमगाये नहीं, जैसे हिमालय आँधी के आने पर नहीं डगमगाता।

(४४)

अनेक बाधाओं से जूझते हुए उन्हें पाँच वर्ष तक तो भरपेट रूखा-सूखा आहार भी नहीं मिला। वे दूध और घी केवल बाजारों में बिकता देखते थे।

(४५)

भिक्षाकृते भ्राम्यति भिक्षुभिक्षौ,
विरुद्धराद्धान्तधियं दधानाः।
धान्योचितं कोष्ठमिवातिलोष्टैः,
पात्रं तदीयं विभरांवभूवुः।

(४६)

आनीय पानीयमपक्वमस्मै,
मंदित्सवः केचिदसभ्य — लोकाः।
तं ज्ञातदोषं विनिवर्त्तमानं,
दृष्ट्वाऽट्टहासं विदधुर्विलज्जाः॥

(४७)

न्यच्छेदि तृष्णा जगतोऽपि यैर्यैः,
किं व्याकुलाः स्युः सलिलं विना ते।
भोगोऽपि मेने च तृणाय यैस्तै,
भोज्यं विना किं स्वपथं त्यजेयुः।

(४८)

प्राप्यापि कष्टान्यमितानि नित्य-
मन्ने च नीरे वसने च वासे।
साधुक्रियायाः स्खलनं न किञ्चि-
दासीत्तदा सीदति साधुवर्गे।

(४५)

श्रमण भिक्षु जब भिक्षा के लिए घूमते, तब कभी-कभी उनके कुछ एक सैद्धान्तिक विरोधी उनके भिक्षा-पात्र में ढेले भर देते, जैसे कोई धान्य डालने के कोठे को ढेलों से भर देता हो।

(४६)

कई असभ्य जन कचा पानी लेकर उन्हें देने लगते। जब वे (आचार्य भिक्षु) उसे सदोष जान लौटाने लगते तो उन्हें देख-देख वे निर्लज्जता पूर्वक ठहाका मार कर हँसते।

(४७)

जिन्होंने संसार की तृष्णा को छिन्न कर डाला, क्या वे जल के बिना व्याकुल हो सकते हैं? जिन्होंने ऐहिक भोगों को तृण के समान समझा, क्या वे भोजन न मिलने पर अपना मार्ग छोड़ सकते हैं?

(४८)

आहार, जल, वस्त्र, ठहरने का स्थान आदि सभी में उन्होंने असीम कष्ट झेला, सहवर्ती साधुओं के कष्टों को भी देखा पर साधु-आचार से वे कभी विचलित नहीं हुए।

(४६)

श्रीमज्जिनेनोप्तमजर्य — बीज-
मवग्रहं दम्भमुपेत्य शुष्कम् ।
श्रीभिक्षुवाणी — शुभवर्षणेन,
विनान्तरेणाऽङ्कुरितं तदेव ॥

(५०)

भिक्षोर्मुनीशस्य बृहद्विरोधे,
पूर्णोऽपि तैस्तैर्विहितः प्रयासः ।
वृथेव शैले करकाप्रपातः,
शनैः शनैर्निष्फलतामयासीत् ॥

(५१)

अशिश्रियद् भिक्षुमथ प्रभूतो,
मोक्षार्थिनां बुद्धिमतां समाजः ।
बिभीषणो राममिव प्रबुद्धो,
निवारितोऽपि प्रतिपक्षिवर्गैः ॥

(५२)

संघो गणीशस्य चतुर्विधोऽपि,
स्वयं व्यवर्द्धिष्ट मनःप्रहर्षात् ।
चतुर्दिशोपेत — सरित्समूहं,
को वारयेद् वारिपतिं मिलन्तम् ।

(४६)

जिनेश्वर ने जिस उत्तम बीज का वपन किया था, जो आडम्बर-दिखाव रूपी अनावृष्टि से सूख गया था, वह आचार्य भिक्षु की वाणीरूपी उत्तम वृष्टि से सघनतया अंकुरित हो उठा।

(५०)

लोगों ने आचार्य भिक्षु के व्यापक विरोध का अपनी ओर से पूरा प्रयास किया। पर यह सब उसी प्रकार निष्फल हो गया, जिस प्रकार पर्वत पर ओलों का गिरना निष्फल होता है। अर्थात् ओलों की वर्षा पर्वत का कुछ भी बिगाड़ नहीं सकती।

(५१)

तदनन्तर मोक्ष के अभिलाषी बुद्धिशील मनुष्यों का समूह विरोधियों द्वारा रोके जाने पर भी आचार्य भिक्षु से उसी प्रकार आ मिला, जिस प्रकार विभीषण उद्बुद्ध होकर रावण आदि के द्वारा रोके जाने पर भी राम से आ मिला था।

(५२)

भिक्षु गणी का संघ अत्यन्त आनन्द के साथ चारों ओर से वृद्धि पाने लगा। चारों ओर से आती नदियों को समुद्र में मिलने से कौन रोक सकता है?

(५३)

प्रधाव्य भिक्षोः शुभदर्शनाय,
शिक्षाम्बुना तत्र मनः प्रधाव्य ।
अर्थद्वयं संस्कृत — धातुधातोः,
प्रायुङ्क्त कश्चित् सकृदेव धीरः ।

(५४)

वैज्ञानिकैर्यन्त्रित — वायुयानं,
क्रमात् परिक्रम्य समस्तभूमिम् ।
आयाति तत्रैव यतश्चचाल,
विनाऽपि निर्देशकमन्तरस्थम् ॥

(५५)

दूरस्थितस्यापि गुरोर्नियोग-
नियन्त्रितो भैक्षवसाधुवर्गः ।
एवं यतो गच्छति साधुसंघा-
दायाति तत्रावसरे नियुक्ते ।

(५६)

भिक्षोरनिच्छोरपि पादपद्मे,
मुमुक्षुदीक्षार्थि — मधुव्रतानाम् ।
नित्यं निपेतुर्बहुभव्यसंघाः,
विनिर्मलं शान्तरसं निपातुम् ॥

(५३)

किसी धीर जन ने भिक्षु गणी के दर्शन के लिए दौड़ते हुए आकर, उनकी शिक्षा के जल से अपना मन धोकर संस्कृत के 'धावु' धातु के (धावु-गतिशुद्धयोः) दौड़ना और धोना—इन दोनों अर्थों का एक ही बार में प्रयोग कर लिया।

(५४-५५)

वैज्ञानिकों द्वारा नियन्त्रित वायुयान (एक विशेष प्रकार का यान) अपने भीतर निर्देशक के बिना भी क्रमशः समस्त भूमण्डल की परिक्रमा कर वापिस वहीं आ जाता है, जहाँ से चला था। वैसे ही भिक्षु-संघ के साधु वर्ग, गुरु चाहे किसी दूरवर्ती स्थान पर भी हों, उनकी आज्ञा के नियन्त्रण में बरतते हुए निर्धारित समय पर वापिस श्रमण-संघ में आ उपस्थित होते हैं, जहाँ से चले थे। (मर्यादा-महोत्सव पर प्रायः ऐसा ही होता है।)

(५६)

आचार्य भिक्षु के न चाहते हुए भी अनेक भव्य, मोक्षाभिलाषी दीक्षार्थी जन रूपी भौंरे शान्त रस का पान करने के लिए उनके चरण-कमलों पर आ गिरने लगे। अर्थात् उनसे प्रव्रजित करने की प्रार्थना करने लगे।

(५७)

परन्तु तेभ्यः सदसद्विवेकी,
गणाधिपश्चारु — चरित्रचित्तान् ।
निष्कास्य जग्राह सुसूक्ष्मसंख्यान्,
दुग्धं कबन्धादिव राजहंसः ॥

(५८)

भिक्षूपदेशे जिनदेशनामे
देशे विदेशे विततेऽखिलेऽपि ।
व्याप्तोऽपि दम्भो विननाश शीघ्रं,
सूर्योदये ध्वान्तमिव प्रवृद्धम् ॥

(५९)

शैथिल्यमङ्गेषु निरीक्षमाणः,
कायावसानं निकटे निबुध्य ।
भारक्षमं भारमलं स्वशिष्यं,
सङ्घप्रबन्धाय विनिश्चिकाय ॥

(६०)

अथो विधित्सुः परलोकयात्रा-
मधिष्ठितः प्रस्तुतमृत्युशय्याम् ।
कुर्वन्तु सेवां श्रमणेष्वजस्र-
मुन्मील्य नेत्रे स शनैरवोचत् ॥

(५७)

परन्तु सद् असद् का भेद जानने वाले आचार्य भिक्षु उनमें से जो चरित्र और भावना में उज्ज्वल होते, उनमें से कुछ एक को इस प्रकार छाँटकर स्वीकार करते –दीक्षा देते, जिस प्रकार राजहंस पानी में से दूध निकाल ग्रहण कर लेता है।

(५८)

जिनेश्वर की धर्म-देशना की तरह आचार्य भिक्षु के धर्मोपदेश के देश-विदेश में फैल जाने पर, सब ओर व्याप्त पाखण्ड इस प्रकार विलुप्त हो गया जिस प्रकार सूर्य के उदित हो जाने पर अँधेरा लुप्त हो जाता है।

(५९)

शरीर के अंगों में व्याप्त शिथिलता देख, अपना शरीरान्त समीप जान आचार्य भिक्षु ने अपने शिष्य भारमलजी को, जो संघ के उत्तरदायित्व को वहन करने में समर्थ थे, संघ के प्रबन्ध के लिए निर्णीत किया।

(६०)

आचार्य भिक्षु परलोक-यात्रा की इच्छा लिये मृत्यु-शय्या पर सोये थे। साधु उनकी अनवरत सेवा कर रहे थे। उन्होंने अपनी आँखें खोलीं और वे धीरे से बोले—

(६१)

आयान्ति भोः केचन साधवोऽद्य,
तत्स्वागतार्थं मुनयो व्रजन्तु ।
लब्ध्वाऽवधिज्ञानमिति — ब्रुवाणे,
भिक्षौ मुनीशे जगदुर्मिथोऽन्ये ॥

(   )

यतो मनः साधुषु लग्नमस्य,
तन्मोहतोऽयं कुरुते प्रलापम् ।
अस्मिंश्चतुर्मास — विशेषकाले,
नागन्तुमर्हा ऋषयः परस्तात् ॥

(६३)

भिक्षोर्गुरोरन्तिम — दर्शनार्थं,
चतुर्षु मासेष्वपि दूरदेशात् ।
समागतैः कैश्चन साधुवर्य्यै-
र्मुदा तदानीं मुनिपोऽभ्यवादि ।

(६४)

गणाधिपज्ञान — विशेषहेतो-
र्लोकाश्चमत्कारमिमं विलोक्य ।
जिघृक्षुमातिथ्यमथो मघोनः,
सर्वेऽप्यवन्दन्त जयं वदन्तः ॥

(६१.)

आज कुछ साधु आ रहे हैं। साधुओं! उनके स्वागत के लिए जाओ। अवधि-ज्ञान प्राप्त कर आचार्य भिक्षु के यों कहने पर वे (वहाँ उपस्थित) साधु आपस में कहने लगे—

(६२)

इनका मन साधुओं में लगा है। उनके मोह से ये प्रलाप कर रहे हैं। चातुर्मास के समय बाहर के साधु आ नहीं सकते।

(६३)

उसी समय, आचार्य भिक्षु के अन्तिम दर्शन के लिए दूर से कई एक साधु आये और उन्होंने उल्लासपूर्वक मुनियों के अधिपति श्री भिक्षु को वन्दन किया।

(६४)

इन्द्र का आतिथ्य चाहनेवाले—शीघ्र ही स्वर्गवासी होने जा रहे आचार्य भिक्षु के विशिष्ट ज्ञान के कारण लोगों ने यह चमत्कार देख उनका जयजयकार किया।

(६५)

कुर्वत्सु सेवामपि साधुपूग्रां,
चतुर्विधे शोचति संघकेऽपि।
चेलुर्नवत्वाय मुनीश्वरस्य,
प्राणाः पुराणानि वपूंषि हित्वा ॥

साधुगण अत्यन्त निष्ठा लिये उनकी सेवा में लगे थे, चतुर्विध संघ में उदासी छा रही थी। ऐसी स्थिति के बीच गणाधिप आचार्य भिक्षु के प्राण पुराने शरीर को छोड़कर नये के लिए चल दिये।

ओम्

अथ पञ्चमः सर्गः

(१)

पूजार्हार्हद्वचनकमलं कोमलं यो व्यदारीत्,
सत्याऽहिंसा सुसुरसरितं पङ्किलां यश्च चक्रे ।
दुर्दान्तं तं य इह हतवान् दम्भिदन्तिप्रमादं,
कुत्रायासीत् प्रबलबलवान् भिक्षुपञ्चाननः सः ॥

(२)

मुक्तेर्युक्तोविविधविधिना दर्शितो येन पन्था,
मन्थानो योऽभवदनुपमः सर्वशास्त्राम्बुराशेः ।
येन प्राप्तो गरुडगरिमां पापसर्पापहारे,
श्रीदीपाँदेजठरजनितः सोऽव्रजत् कुत्र पुत्रः ॥

(३)

रिक्तो यस्मादसलिलसरःसन्निभः साधुसंघो,
यस्याऽभावे भवति भुवने भौतिकानां प्रभावः ।
सद्यः सिद्धा न बुधविधृता वर्द्धतेऽध्यात्मविद्या,
रुष्टोऽस्मभ्यं श्रमणरमणो हेतुना केन सोऽद्य ॥

(४)

भिक्षोरिक्षोः स्वरसमधुरा वर्त्तते कुत्र वाणी,
क्व प्रश्नानां झटिति समितौ सत्समाधानमस्ति ।
कुत्रात्रार्हद्वचनविधिना साधनं संयमस्य,
तत्रायोध्या लषति नगरी राजते यत्र रामः ॥

(१)

जिसने पूज्यपद अर्हत् के कमलरूपी कोमल वचनों को विदीर्ण कर डाला था, जिसने सत्य और अहिंसा की सुरसरी को कर्दमित बना दिया था, दम्भी-जनों के उस प्रमादरूप हाथी का जिसने विनाश किया, वह भिक्षुरूपी सिंह कहाँ चला गया !

(२)

जिसने अनेक प्रकार से मुक्ति का यथार्थ पथ-दर्शन दिया, जो समग्र शास्त्र-समुद्र के मन्थन में अनुपम मन्थन-दण्ड (मथानी) बना, पापरूपी सर्पों के विध्वंस में जिसने गरुड का गौरव पाया, माता दीपाँदे की कोख से उत्पन्न हुआ वह लाल कहाँ चला गया !

(३)

जिनसे रहित हुआ साधु-संघ ऐसा प्रतीत होता है, मानो बिना जल का तालाब हो, जिनके न रहने पर भौतिकवादियों का प्रभाव बढ़ जाना चाहता है तथा तत्क्षण फलदायिनी आध्यात्मिक विद्या, जिसे विद्वज्जन धारण करते रहे हैं, बढ़ती नहीं ; वे आचार्य भिक्षु हम पर आज क्यों रूठ गये हैं ।

(४)

भिक्षु की इक्षु-रस के समान मधुर-वाणी आज कहाँ है, परिषद में प्रश्नों का तत्क्षण समाधान आज कहाँ है, अर्हत् के वचन के अनुरूप आज संयम की साधना कहाँ है । यथार्थ ही है, जहाँ राम रहते हैं, वहीं अयोध्या नगरी है ।

(५)

इत्थं तथ्यं प्रलपति मिथोऽस्ताकशोकेऽपि लोके,
स्वर्गं गच्छन् पुनरिति महीं चक्षुषैकेन नाऽपि।
द्रष्टुं सेहे प्रतिनिधिरयं पूर्वतीर्थङ्कराणां,
द्राक्षां प्राप्य प्रभवति मनः किंशुके किं शुकस्य ॥

(६)

पश्चात् संघो द्विगुणगतितो वर्द्धतामित्यवेत्य,
भिक्षुस्वामिस्वकरकमलैरर्पितां पूजनीयाम्।
पूर्वप्राप्तं र्गुरुगुणगणैर्गर्भिताङ्गो गरीया-
नाऽऽचार्यस्याप्रतिमपदवीं भारमल्लो बभार ॥

(७)

पूर्वाचार्यैर्विमलमतिभिर्दर्शिते मुक्तिमार्गे,
साधून् साध्वीः स्वपदपतितान् श्रावकान् श्राविका वा।
आज्ञाबद्धान् नियमनिरतांश्चालयन् नित्यमेव,
शिष्यः शुभ्रं निजगुरुमुखं स्वैर्यशोभिर्वितेने ॥

(८)

कुर्वन् पद्भ्यां जगति विहृतिं श्रावयन् जैनधर्मं,
सर्वान् जीवान् स्वमिव विहितान् पट्सु कायेषु जातान्।
सूक्ष्मासूक्ष्मान् जिनपरिचितान् रक्षयन् भिक्षुरीत्या,
तेरापन्थस्थितमुनिजनः सिद्धधर्मा बभूव ॥

(५)

असीम शोक में डूबे हुए लोगों द्वारा यह जो कहा जा रहा था, यथार्थ ही था पर पूर्वतन तीर्थङ्करों के प्रतिनिधि-स्वरूप भिक्षु स्वामी ने स्वर्ग जाते हुए इस पृथ्वी की ओर आँख उठाकर भी नहीं देखा। ठीक ही है, सुग्गा जब द्राक्षा को पा लेता है, तब क्या उसका मन कभी ढाक पर रहने को होता है ?

(६)

संघ आगे भी दुगुनी गति से बढ़ता जाए, यह सोच श्री भारमलजी ने, जिन्हें आचार्य भिक्षु स्वयं अपने कर-कमलों से पूज्य पद सौंप चुके थे, जो पूर्व-प्राप्त महान् गुणों से सम्पन्न थे, आचार्य-पद धारण किया।

(७)

अपने चरणों में आश्रित साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविकाओं को, जो उनके अनुशासन में संस्थित थे, जो धार्मिक नियमों में निरत थे, आचार्य भिक्षु के शिष्य श्री भारमलजी ने निर्मलचेता पूर्वाचार्यों द्वारा दिखलाये गये मुक्ति-पथ पर चलाते हुए अपने यश से गुरु का मुख उज्जवल किया।

(८)

पृथ्वी, अप् , तेजस्, वायु, वनस्पति, त्रस—इन छओं कायों में उत्पन्न हुए, सूक्ष्म और स्थूल, जो अपने समान हैं, जिन्हें सर्वज्ञ जानते हैं, कि आचार्य भिक्षु द्वारा प्रतिपादित विधि से रक्षा करते हुए, जगत् में पैदल विहार करते हुए तथा लोगों को जैन धर्म सुनाते हुए तेरापंथ के मुनि गण धर्म की साधना करने लगे।

(६)

ज्ञात्वा स्वीयं निकटनिधनं भारमल्लोगणीश,
आचार्यस्य स्वनिहितपदं स्थापयित्वा विशिष्टे।
श्रेष्ठे स्कन्धे गणिगुणवतो रायचन्द्राऽभिधस्य,
साश्रून् तन्वन्नमितमनुजान् देवलोकं डुढौके ॥

(१०)

भूत्वाचार्यो रुचिरचरितो रायचन्द्रस्तृतीयो,
वृत्त्या शान्तो गुणिगणनुतः शासने भासमानः।
शुद्धैर्भावैः सहजकठिनैर्योजयन् साधुवर्गं,
कीर्त्तिं भिक्षोर्विततविभवां रक्षयामास सम्यक् ॥

(११)

विज्ञायायं हृदि विदधतं जीवनान्तं कृतान्तं,
भारं वोढुं क्षममतिशयात् तीर्थकाणां चतुर्णाम्।
शिष्यं स्वीयं मुनिजनवरं जीतमल्लं विनीत-
माचार्येषु व्यधित सुधियं चारुचर्यं चतुर्थम् ॥

(१२)

ध्वान्तं निघ्नन् सकलजगतो रायचन्द्रोऽपिचन्द्रो,
यातोऽह्नास्तं सदयहृदयः शान्तिदाता समेषाम्।
शोकग्रस्तोऽजनि जिनजनो धार्मिकाणां प्रधानो,
नास्मिन् लोके नियतनियतिं कोऽपि रोद्धुं समर्थः॥

(९)

अपने देहावसान का समय निकट जान श्री भारमलजी ने आचार्य पद गणी के गुणों से युक्त श्री रायचन्द्रजी के विशिष्ट व श्रेष्ठ कन्धों पर संस्थापित किया और वे अनेक लोगों की आँखों से आँसू गिरवाते स्वर्ग सिधार गये।

(१०)

श्री रायचन्द्रजी तीसरे आचार्य थे। उनका जीवन बड़ा सौम्य था। उनकी वृत्ति में सहज शान्ति थी। गुणी जन उनका आदर करते थे। धर्म-शासन में उनकी शोभा थी। अति कठिन शुद्ध भावों में साधु गण को योजित रखते हुए उन्होंने आचार्य भिक्षु की अत्यन्त विस्तृत कीर्ति का भलीभाँति संरक्षण किया।

(११)

जब श्री रायचन्द्रजी ने यह अनुभव किया—जीवन का समापन निकट है तो उन्होंने चारों तीर्थों (साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका) के उत्तरदायित्व-निर्वहण में भलीभाँति सक्षम, विनयशील, कुशल चर्चावादी, मेधावी, अपने शिष्य श्री जीतमलजी को चतुर्थ आचार्य मनोनीत किया।

(१२)

चन्द्र के समान समस्त, जगत् का अंधियारा मिटानेवाले श्री रायचन्द्रजी, जो हृदय के दयालु थे, सबके लिए शान्तिदायक थे, अस्त हो गये। धर्म-प्रधान जैन जगत् में शोक छा गया। वस्तुतः इस लोक में अवश्यंभावी नियति का अवरोध करने में कोई समर्थ नहीं है।

(१३)

स्वर्गं याते निजगुरुवरे जीतमल्लो मनस्वी,
न स्वीचक्रे व्रतशिथिलतां क्वापि काले कराले।
शास्त्रार्थे दिग्विजयमनिशं निश्चितं पद्यमानो,
लोकैरूचे जय इति महाराजनाम्ना नवेन॥

(१४)

सोऽयं प्राज्ञः स्वरचितमहाकाव्यकल्पद्रुमाणां,
मिष्टं मिष्टं फलमतिमितं स्वादयन् सर्वलोकान्।
ग्रामं ग्रामं दिशि विदिशि वा दत्तवान् पूर्णलाभं,
देवैर्भोज्यं यदमरफलं मर्त्यलोकेऽपि तस्य॥

(१५)

संजातोऽयं बहुलकवितासिद्धिमध्ये प्रसिद्धो,
नानाग्रन्थान् निजमतगतान् मातृभाषानिबद्धान्।
गूढागूढान् सगुणसरसान् सर्वसाधारणाप्यान्,
सद्यः स्नात्वा भुवि विहितवान् जैनशास्त्राम्बुराशौ॥

(१६)

सन्मर्यादां मुनिजनकृते बद्धवान् बुद्धिपूर्वं,
यस्या हेतोः श्रमणसरिता नैति कूलंकषात्वम्।
शास्त्राभ्यासं सुमतिसहितं कारयित्वा स साधून्।
नाविद्याया वसतिमददात् संघमध्ये कदापि॥

(१३)

गुरुवर्य स्वर्गवासी होचुके थे। मनस्वी श्री जीतमलजी संघ के अधिनेता थे। तथाकथित भीषण समय में भी उन्होंने व्रतों में शैथिल्य स्वीकार नहीं किया। वे शास्त्रार्थ में सदैव दिग्विजयी रहे। अतः लोग उन्हें 'जय महाराज' इस नये नाम से पुकारने लगे।

(१४)

श्री जीतमल जी ने विभिन्न दिशाओं में पर्यटन करते हुए सभी लोगों को अपने द्वारा रचित महाकाव्यों रूपी कल्प-वृक्षों के मीठे-मीठे फल चखा कर देवों द्वारा खाने योग्य अमर-फल का लाभ इस मनुष्य-लोक में भी दे दिया।

(१५)

श्री जीतमलजी एक ख्यातनामा, सिद्धिप्राप्त काव्यकार थे। उन्होंने जैन-शास्त्र रूपी समुद्र में सद्यः स्नान कर अपने सिद्धान्तों से सम्बद्ध अनेक ग्रन्थों की मातृभाषा—राजस्थानी में रचना की। वे ग्रन्थ बड़े महत्त्वपूर्ण हैं—कई गम्भीर हैं, कई सरल हैं, सरस और सगुण हैं, सर्व साधारण के समझने योग्य हैं।

(१६)

उन्होंने मुनियों के लिए श्रेष्ठ मर्यादाएँ गठित कीं, जिससे श्रमणरूपी सरिता का बाँध न टूटने पाए। उन्होंने साधुओं को विवेचना पूर्वक शास्त्राभ्यास कराकर अविद्या के लिए अपने संघ में स्थान ही न रहने दिया।

(१७)

दृष्ट्वा साक्षादजरजरसा जर्जरं स्वीयमङ्गं,
सर्पन्तं वा यममभिमुखं दन्तुरं दुर्निवार्यम्।
मेने स्वेऽन्ते मघवसुमुनिं सर्वसंघाधिपत्ये,
तेजोदीप्तं मघवसदृशं शासनं कर्त्तुमर्हम्॥

(१८)

योग्यायोग्याङ्गिलति निखिलानागलं पामरो यो,
लीनः क्वापि प्रवरगणिनं जीतमल्लं स हृत्वा।
हाहाकारं व्यथित जनता साधुरत्नापहारे,
हा रे तेऽरं भवति न कथं क्रूर! कीनाश! नाशः॥

(१९)

जाते शक्रे दिवि गुरुवरे तेन किं त्यक्तसद्मा,
छद्माभासान्मघवगणिनः शासनं कर्त्तुमत्र।
पृथ्वीपृष्ठे समवसरति स्वेच्छया देवराजे,
इत्थं जातः शुभविनिमयस्तर्क्यते भूरिलोकैः॥

(२०)

शान्त्या मूर्त्तिर्विहसितमुखः पापपुञ्जापहारी,
कृत्वा नित्यं मधुरवचनैरुग्रपीयूषवर्षाः।
अस्मिंल्लोकेप्यमरसदनं स्थापयामास वाग्मी,
विद्वद्वन्द्यो मुनिपमघवा सर्वशास्त्रार्थवेत्ता॥

(१७)

श्री जीतमलजी ने देखा कि वार्धक्य, जो स्वयं कभी वृद्ध नहीं होता, द्वारा शरीर जर्जर होगया है; विकराल दाँतों वाला, दुर्निवार काल सामने बढ़ा आरहा है, तब उन्होंने अपने बाद समग्र संघ के अधिपति-पद के लिए इन्द्र के तुल्य, तेज से देदीप्यमान मुनि मघवा को मनोनीत किया।

(१८)

पामर काल, जो योग्य, अयोग्य—सभी को गले तक निगल जाता है, आचार्यवर्य श्री जीतमलजी का हरण कर मानों कहीं छिपगया। साधुओं में रत्न के तुल्य श्रीजीतमलजी का हरण किये जाने पर जनता हाहाकार करने लगी। सब ओर से यही स्वर निकलते थे—"हाय! निर्दय काल! तेरा नाश क्यों नहीं होजाता।"

(१९)

बहुतसे व्यक्ति यों कल्पना करने लगे—श्रीजीतमलजी तो स्वर्ग में इन्द्र-पद पर आसीन हो गये। तब इन्द्र को वहाँ स्थान नहीं रहा। अतएव भूमण्डल पर शासन करने के लिए इन्द्र मानों मघवा गणी के रूप में अवतरित हो गया। कैसा सुन्दर विनिमय हुआ।

(२०)

विद्वानों द्वारा वन्दनीय, शास्त्रों के रहस्य को जानने वाले, विद्वद्वरिष्ठ श्री मघवा गणी शान्ति की प्रतिमूर्ति थे, सदा हँसमुख रहते थे, पाप-समूह के विध्वंसक थे। नित्य मधुर वचनों द्वारा अमृत की प्रचुर वृष्टि कर मानों इस लोक में भी उन्होंने देवों की वासभूमि स्वर्ग की अवतारणा कर दी थी।

(२१)

भूत्वा विद्वान् स्वयमपि महान् संस्कृतं प्राकृतं च,
सर्वान् साधून् विपुलतपसा संयमेनाऽपि पूर्णान् ।
विद्याम्भोधेर्विमलसलिले स्नापयामास सम्यक्,
तेरापन्थेऽभवदविचला प्रोज्वला हंसयाना ॥

(२२)

वृद्धावस्थाव्यथितवपुषो द्रागवश्यं भविष्यं,
बुद्धावुद्धप्रकटनिकटप्राप्त — देहान्तकालः ।
पश्चादन्ते मुनिगणमणिं मान्यमाणिक्यचन्द्रं,
कार्यं कर्तुं प्रनिनिधिपदे योग्यमैक्ष्य न्ययौक्षीत् ॥

(२३)

पूर्णानन्दे स्थितवति शुभे साधुसाध्वीसमाजे,
प्राप्तास्वेवं नियमनिरतिं श्रावकश्राविकासु ।
कालोऽकस्मा — न्मघवमुनिपं गुप्तरूपो जहार,
बालो वृद्धो युवकयुवती शोकसिन्धावमज्जन् ॥

(२४)

षष्ठाचार्यो गणिषु गणितः पूज्यमाणिक्यचन्द्रः,
सर्वान् साधूनगणितगुणैः पूरयामास शीघ्रम् ।
व्याप्ता संघे सहजकठिना तस्य घोरा तपस्या,
धर्मध्यानं न्यधिषत जनाः सर्वदोषैर्विमुक्ताः ॥

(२१)

स्वयं संस्कृत और प्राकृत के महान विद्वान होकर, उन्होंने उग्र तप और संयम से युक्त सब साधुओं को विद्यारूपी समुद्र के निर्मल जल में भलीभाँति स्नान करवाया। फलतः तेरापंथ में औज्ज्वल्यमयी वाग्देवी स्थिर बनगई। अर्थात् संस्कृत और प्राकृत के अध्ययन-अनुशीलन की एक स्थिर परंपरा तेरापंथ में चलपड़ी।

(२२)

वृद्धावस्था से जीर्ण हुए शरीर का अवश्य घटित होनेवाला भविष्य जानकर, देहावसान का समय समीप आ गया है—ऐसा अनुभव कर उन्होंने अपने पीछे अपने प्रतिनिधि के रूप में कार्य करने के लिए मुनिगण में मणि के तुल्य माननीय श्री मणिक्यचन्द्रजी को योग्य जान अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया।

(२३)

साधु-साध्वी-समाज अत्यन्त आनन्दमग्न था। श्रावक तथा श्राविकाएँ अपने नियमानुचालन में संलग्न थी। इस बीच अकस्मात् छिपा हुआ काल श्री मघवागणी को हर ले गया। बालक, वृद्ध, युवक, युवती—सभी शोक-समुद्र में डूब गये।

(२५)

छठे आचार्य गणिवर्य पूज्य श्री मणिक्यचन्द्रजी ने समस्त साधुओं को असंख्य गुणों से परिपूरित किया। संघ में अति उग्र तपस्या का संचार हुआ। सब दोषों को छोड़ लोग धर्म-ध्यान में संलग्न रहते थे।

(२५)

कोऽपि स्थैर्यं भजति न भुवि प्राप्तजन्मा मनुष्यो,
वैकुण्ठस्य प्रमुखभवनं पूज्य एषोऽप्यगृह्णात् ।
तूर्णं पूर्णं नयनसलिलैर्हि स्थलं मानवानां,
वृद्धैर्विज्ञैरभिनव पदैर्वर्णिता तस्य कीर्त्तिः ॥

(२६)

ध्यानैकस्था गिरिगुरुगुहाव्यापिनो योगिनोऽपि,
ज्ञातुं शक्ताः शिरसि पतितं मृत्युमाकस्मिकं न ।
माणिक्येन्दुर्दिवि गमनतः प्राक्स्वसंघप्रबन्धं,
कर्त्तुं रेभे यदि न बहुलस्तर्हि कस्तस्य दोषः ॥

(२७)

स्वर्गं याते नृपदशरथे काननोत्के च रामे,
याऽयोध्याया दुरजनि दशा सर्वतो व्याकुलायाः ।
आविर्भूता नियतसमये सैव दैवप्रदोषात्,
तेरापन्थेऽप्यवितथपथे जायमाने ह्यनाथे ॥

(२८)

दीपो दीपादिव न गणिनो यद्गणी कोऽपि जातः,
तेरापन्थे तदिति कलहो भूरिशो भाव्यमानः ।
मुष्टामुष्टि प्रभवतु महायुद्धमस्मिन् गणेऽतः,
केचित् काशैरिव विकसिताः शारदैर्वै पदिग्धाः ॥

(२५)

संसार में जन्म पानेवाला कोई भी मनुष्य यहाँ स्थिर नहीं रहता। अतएव इन गणिवर श्री माणिक्यचन्द्रजी ने भी एक दिन स्वर्ग में प्रमुख स्थान ले लिया। मनुष्यों की छाती तत्क्षण आँसुओं से भर गई और विद्वान्, बड़े बूढ़े उनकी कीर्ति नये-नये पदों से वर्णित करने लगे।

(२६)

पर्वत की गहन कन्दरा में वास करनेवाले, ध्याननिरत योगी जन भी अकस्मात् शिर पर झपटते काल को जब नहीं जान पाये तो यदि श्री माणिक्य-चन्द्रजी ने स्वर्गवासी होने से पूर्व अपने संघ की भावी व्यवस्था नहीं की तो इसमें उनका क्या दोष था।

(२७)

राजा दशरथ के स्वर्गवासी और राम के वनवासी हो जाने पर सर्वतो-भावेन व्याकुल अयोध्या की जो दशा हुई, वही दशा सत्य पथ पर आरूढ़ तेरापंथ की दैव-दुर्विपाक से गणिहीन होने पर हुई।

(२८)

जैसे दीपक से दीपक जलता है, वैसे ही गणी से गणी का संस्थापन होता है, जो तेरापंथ में इस बार नहीं हुआ। अतएव वहाँ बड़ा संघर्ष मच जानेवाला है। परस्पर मुक्केबाजी का घोर युद्ध उसमें होने लगेगा—यों सोच कई द्वेषी लोग उस तरह फूल गये, जिस तरह शरद् ऋतु में कास फूल जाता है।

(२९)

साधौ साध्व्यां गणतलगते श्रावके श्राविकायां,
निर्नाथत्वाद् विकलगतितः क्रूरकोलाहलोऽभूत्।
कश्चित् प्रोचे व्यथितमनसा भ्रामयन्नुत्तमाङ्गं,
कास्तास्तारा वियति विधुना नाधुना शोभिता याः ॥

(३०)

आचार्यस्य प्रवरपदवीलोलुपत्वं विहाय,
दूराद्दूरान्मिलितमुनयो मन्त्रणां चक्रुरेकाम्।
भर्त्ताऽस्मामिः स्वयमितिगणे कोऽपि निर्धारणीयः,
किन्नो मृग्यो मृगदलगतःकोऽपि कस्तूरिकैणः ॥

(३१)

एकां वाणीं वदति फणिपोऽप्याप्यजिह्वासहस्र-
मेवं सर्वे समतिमुनयोऽप्याहुरेकस्वरेण।
तेरापन्थे गणपतिरभूत्सप्तमो डालचन्द्रो,
दीव्यन्मूर्त्तिं प्रखरतपसामद्य वन्दामहे तम्॥

(३२)

एकीभूयाऽखिलमुनिजनैरर्पितं प्रेमपूर्वं,
स्वीचक्रेऽयं गणपतिपदं डालचन्द्रोप्यनिच्छः।
मुक्तां शुक्तिर्नयति जलदात् क्रन्दनादिं विनैव,
याञ्चां कुर्वन् मधुरवचसाप्येकबिन्दुं पिको न ॥

(२६)

साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविकाओं में नाथविहीन हो जाने पर व्याकुलता-वश निर्मम क्रन्दन मच गया। कोई शिर हिलाकर बेचैन भाव से कहने लगा—आकाश में वे क्या तारे हैं, जो चन्द्रमा से शोभित नहीं हैं। अर्थात् जिस प्रकार चन्द्ररहित तारागण सूना लगता है, उसी प्रकार गणी रहित गण सूना लगता है।

(३०)

जिन्हें आचार्य-पद की कोई लिप्सा नहीं थी, दूर से, समीप से आकर मिले ऐसे मुनियों ने परस्पर मन्त्रणा की कि स्वयं अपने गण में आचार्य का निश्चय करना चाहिए। क्या मृग-समूह में स्थित कस्तूरी-मृग नहीं ढूँढ़ा जाता ?

(३१)

सहस्र जिह्वाओंवाला होकर भी शेष नाग एक ही वाणी बोलता है। उसी प्रकार सभी सहमत हुए मुनियों ने एक स्वर से कहा—तेरापंथ के सप्तम आचार्य श्री डालचन्द्रजी हुए। उन प्रखर तप से देदीप्यमान मूर्तिवाले गणिवर को हम सब वन्दन करते हैं।

(३२)

यद्यपि श्री डालचन्द्रजी आचार्य-पद के अनिच्छुक थे पर जब समस्त मुनि-गण ने एकत्र होकर प्रेमपूर्वक उन्हें आचार्य-पद सौंपा तो उन्होंने उसे स्वीकार कर लिया। सीप बिना चिल्लाये ही मेघ से मोती पा लेती है और पपीहा मीठी वाणी से याचना करता हुआ भी एक बूँद तक नहीं पाता।

(३३)

आचार्योऽयं परमसुभगो भाषणेन स्वकेन,
स्वीयानन्यान् बहुलपुरुषान् मोहयामास शीघ्रम्।
किं दुष्कार्यं जगति विदुषां संयुतानां तपोभि-
र्निर्भीकानां विनिहतदशद्दूषणाऽहिप्रजानाम् ॥

(३४)

तेजःपुञ्जं ज्वलितनयनं पूज्यपीठे निषण्णं,
शार्दूलं तं सहजसरलो मन्यमानो मनुष्यः।
स्प्रष्टुं तस्य क्रमकमलमप्याशशङ्के विनीतः,
ओजःपूर्णो भवति विरलो भाग्यशाली प्रकृत्या ॥

(३५)

दोषैः सर्वैर्बहुविरहितं शारदेन्दुप्रभाभं,
स्वीयं संघं कठिननियमैर्यन्त्रयित्वा नियन्ता।
आचार्यस्य स्वगतपदवीं सर्वतोऽलंचकार,
तेनार्याणामजनि च धरा सर्वधुर्यप्रधाना ॥

(३६)

गम्भीराणां वपुषि वसतामामयानां स मायां,
कैश्चिद् वैद्यैरपि सुनिपुणैर्घोररूपामभेद्याम्।
ज्ञात्वा सद्यो यममपि मुखं व्याददानं विलोक्य,
संघायान्ते दृढनिगडितं सत्प्रबन्धं व्यचारीत् ॥

(३३)

परम शौभाग्यशाली आचार्य श्री डालचन्द्रजी ने अपनी प्रभावशाली वक्तृता से क्या अपने और क्या पराये—सबको मुग्ध कर लिया। डसते हुए दूषण रूपी सर्पों की सन्तति का जिन्होंने हनन कर डाला, उन तपस्वी व निर्भीक पुरुषों के लिए इस जगत् में क्या दुष्कर है।

(३४)

वे तेज के पुञ्ज थे। उनके नेत्रों से ज्योति की लपटें निकलती रहती थीं। आचार्य—पीठ पर आसीन वे सिंह जैसे लगते थे। अतएव विनयान्वित सरल मनुष्य उनके चरण-कमलों का स्पर्श करने में मानों झिझकता था। वस्तुतः विरले ही भाग्यशाली सहज तथा ओजस्वी होते हैं।

(३५)

नियामक श्री डालचन्दजी ने सभी दोषों से अत्यन्त विरहित, शरद् ऋतु के चन्द्र के समान प्रभाशील अपने संघ को कठिन नियमों में नियन्त्रित करते हुए अपने आचार्य-पद को सर्वथा अलंकृत किया। जिससे इस पृथ्वी (भारत भूमि) का धर्म के उद्वाहक जन में गौरव व्याप गया।

(३६)

उन्होंने जब जाना, शरीर में उन गम्भीर रोगों का वास हो गया है, जिनकी घोर माया का अत्यन्त निपुण चिकित्सक भी भेदन नहीं कर सकते और उन्होंने देखा, यमराज भी सामने मुँह फाड़े खड़ा है तो उन्होंने संघ के लिए सुदृढ़ प्रबन्ध करने का सोचा।

(३७)

चम्पापुष्पं कुसुमनिवहे स्वर्णलङ्कां पुरीषु,
सद्रत्नेषूत्तममिव मणिं गोषु वा कामधेनुम् ।
कालूरामं मुनिषु गुणिनं सर्वथाऽन्विष्य यत्नात्,
शान्त्याऽऽसीनं सपदि कृतवान् सोऽष्टमाचार्यपीठे ॥

(३८)

भूसेवांसं चिरजसजहात् काननं केसरीव,
स्वर्गारोहं व्यधित विधिना प्रेरितो डालचन्द्रः ।
तद्रिक्ताऽऽसीद् भरतधरणी शर्वरीवेन्दुवर्जा,
लोकाः शोकातुरहृदयतस्तं व्रजन्तं प्रणेमुः ॥

(३७)

फूलों के समूह में चम्पा, नगरियों में स्वर्णमयी लंका, रत्नों में उत्तम मणि और गायों में कामधेनु की तरह मुनियों में श्रेष्ठ श्री कालूरामजी को उन्होंने सयत्न खोजकर शान्तिपूर्वक अष्टमाचार्य के पद पर प्रतिष्ठापित किया।

(३८)

जिस प्रकार सिंह वन को छोड़ देता है, उसी प्रकार उन्होंने, बहुत समय से जिस पृथ्वी पर वास करते आ रहे थे, उसे छोड़ दिया और स्वर्ग चले गये। उनसे खाली हुई भारत-भूमि चन्द्रवर्जित रात्रि जैसी लगती थी। लोगों का हृदय शोक से आकुल था। जाते हुए उन्हें उन्होंने वन्दना की।

ॐ

अथ षष्ठः सर्गः

(१)

दिविगते गुरुडालगणीश्वरे,
मतिमतां वरकालुकृती ततः ।
पितुरनन्तर — नेहलब्धयशो,
द्विगुणितं गुणितत्वरतोऽकृत ॥

(२)

हिमकरं भुवनस्य तमोहरं,
व्रतपरं गणिनं नवनायकम् ।
सकलसंघ — जनोमुदितो दधौ,
सुशिवदेववदेव शिरस्तले ॥

(३)

उचितमुत्तरमाप्य गणीश्वरा-
दचकिताद् बहुतर्कितपृच्छया ।
विजितजैनजिनाजिन — पण्डिताः,
विनयिनो नयिनो मुदमावहन् ॥

(४)

प्रतिदिनं नवनिर्मितमद्भुतं,
गणिवरोदितसुन्दर — भाषणम् ।
नियमतो मनसा बहुशुश्रुवु-
श्चतुराश्चतुराः सकला जनाः ॥

(१)

गुरुवर्य श्री डालगणी के स्वर्गस्थ हो जाने पर, गुणिजनों द्वारा सेवित शास्त्रों में निरत रहनेवाले, मतिमानों में श्रेष्ठ, कृतित्वशील श्री कालुगणी ने उनके यश को इस प्रकार दुगुना कर दिया, जिस प्रकार श्री जवाहरलालजी नेहरू ने अपने पिता श्री मोतीलालजी नेहरू के अनन्तर किया।

(२)

संघ के सब मनुष्यों ने शान्ति देनेवाले, संसार के अन्धकार को मिटाने वाले, व्रत-परायण, नव अधिनायक श्री कालुगणी को उसी तरह शिरोधार्य किया, जिस तरह शिवजी ने चन्द्रमा को अपने मस्तक पर धारण किया।

(३)

वे नैयायिक, विनयशील विद्वान्, जिन्होंने विजय-प्राप्त जैन, अजैन पण्डितों को जीत लिया था, श्री कालुगणी से, जो उनके तर्कयुक्त प्रश्नों को सुन जरा भी चकित नहीं हुए थे, उचित उत्तर पाकर बहुत आह्लादित हुए।

(४)

शिक्षित और अशिक्षित सभी लोग प्रतिदिन गणिवर्य का अभिनव, अश्रुत-पूर्व एवं सुन्दर भाषण उत्कण्ठा के साथ नियमतः सुनने लगे।

(५)

विविधवेषभृतोऽनृत — वाचकान्,
स्वगुरु — कालुगणीतरतो जनाः ।
कुगुणतः परवस्तु न निन्यिरे,
न मरुतो मरुतो रजसोऽधिकम् ॥

(६)

अथ कदाचन रावतमल्लको,
यतिवरोऽकथयत् समुपेत्य माम् ।
कविकृतिन् ! रघुनन्दननामक,
मम हितं महितं वचनं शृणु ॥

(७)

इह मरुस्थित — चूरुपुरेऽधुना,
व्रतिवरो गणि — कालुरुपस्थितः ।
मिल तमुत्तमदर्शन — हेतवे,
सुरसमं रसमन्थनतत्परम् ॥

(८)

पठति पाठयति प्रभुरुज्ज्वलं,
कठिनभासितसंस्कृत — भारतीम् ।
बुधजनेषु करोति कृपां सदा,
कविकृतं विकृतं मनुते न सः ॥

(५)

श्री कालुगणी को छोड़ अन्य वेषधारी मिथ्यावादी जनों से लोग अवगुणों के सिवाय और क्या पा सकते थे। वायु मरुस्थल से वालू से अधिक और क्या पायेगा ?

कवि अपने जीवन का एक संस्मरण प्रस्तुत करता है-

(६)

एक समय यतिवर्य श्री रावतमलजी ने मेरे पास आकर कहा कि कविवर रघुनन्दनजी ! मेरी एक हितकर और सुन्दर बात सुनें।

(७)

इस समय यहाँ मरुधरास्थित चूरु शहर में व्रतिश्रेष्ठ श्री कालुगणी प्रवास कर रहे हैं; उनके दर्शनार्थ चलें। वे देवतुल्य हैं। राग का विध्वंस करने में वे कृतोद्यम हैं।

(८)

वे कठिन जैसी प्रतीत होती संस्कृत भाषा को पढ़ते हैं, पढ़ाते हैं। वे विद्वानों पर बड़ी कृपा रखते हैं। कविता को वे बुरी नहीं मानते। अर्थात् उनकी काव्य में भी अभिरुचि है।

(९)

सहगता वनिता न सुतः सुता,
भवति तस्य विमुक्तगृहस्थितेः ।
करुणिताक्षियुगः स विलोकते,
मुनिजनं निजनन्दनसन्निभम् ॥

(१०)

लिखितपुस्तकसुन्दर — संग्रहं,
विविधशास्त्रपुराण — विभूषितम् ।
गणमुपेत्य निभालय सत्वरं,
नवदतां वदतां विषयो हि सः ॥

(११)

मुनिपदाम्बुजसंतत — सेवया,
विलयमर्हति संचितपातकम् ।
सह मया चल धारय धैर्यतः,
सुकृतकं कृतकण्टकनाशनम् ॥

(१२)

निजनिवृत्तिपदं बहुविस्तर-
मुपदिशन् पुरुषानिति भाषते ।
विषयमेव वदन्ति सुकर्म ये,
शममते मम ते न हि शोभनाः ॥

(९)

वे गृहत्यागी हैं। न उनके साथ स्त्री है, न पुत्र है और न पुत्री। वे श्रमण-वृन्द को ही करुणित नेत्रों से अपने पुत्र के तुल्य देखते हैं।

(१०)

आप शीघ्र चलकर साधुसंघ को देखें। विविध शास्त्र, पुराण आदि हस्त-लिखित पुस्तकों का सुन्दर संग्रह वहाँ है। वह संग्रह नवयुवक विद्वानों का विषय है।

(११)

मुनिजन की अनवरत चरण-सेवा से पूर्व संचित पाप विलीन हो जाते हैं। मेरे साथ चलें और काँटों—आत्म-क्लेशों का नाश करनेवाले धर्म को धारण करें।

(१२)

वे कालुगणी लोगों को अपने निवृत्ति-प्रधान मार्ग का उपदेश देते यों कहते हैं—जो विषय को ही अच्छा काम मानते हैं, वे मेरे शान्तिदायक सिद्धान्त में अच्छे नहीं हैं।

(१३)

वितनुते विकलेन्द्रियनिग्रहं,
न सहतेऽथ निरर्थकभाषणम् ।
विविधभोगविलास — विवर्जितः,
स विषयं विषयन्त्रममानयत् ॥

(१४)

इतरतार्किक — भूरिनरेष्वपि,
निजनिजं निगदत्सु वचोऽद्भुतम् ।
कथयितुं जिनसत्यमथाऽभयः,
प्रविशतेऽविशते मृगराजवत् ॥

(१५)

अहमवादिपमुद्धत — माग्रहं,
यतिवरस्य विचार्य हृदःस्थले ।
प्रियसखेऽत्र सखेद मिति ब्रुवे,
परमते रमते न मनो मम ॥

(१६)

पुनरवोचदयं करुणामयं,
व्रतसुरक्तविरक्त — विभूषितम् ।
जगति जागरितं जनजातिजं,
जिनमतं न मतं परधर्मकम् ॥

(१३)

वे अनवस्थित इन्द्रियों को दमित करते हैं। निरर्थक भाषण उन्हें अच्छा नहीं लगता। विभिन्न प्रकार के भोगों को वे छोड़े हुए हैं।

१४)

अपनी अपनी अद्भुत बात कहते अन्य मतावलम्बी तार्किक जनों के बीच वे जैन दर्शन के सत् सिद्धान्तों की बात कहने के निमित्त इस प्रकार प्रवेश कर जाते हैं, जिस प्रकार सैकड़ों भेड़ों के बीच सिंह प्रविष्ट हो जाता है।

(१५)

यतिवर्य श्री रावतमलजी के आग्रह पर मैंने अपने-अपने मन में विचार कर कहा कि प्रिय मित्र ! इस सम्बन्ध में मुझे बड़े खेद के साथ कहना होता है कि अन्य मत के प्रति मेरे मन में कोई अभिरुचि या उत्सुकता नहीं है।

(१६)

यति रावतमलजी पुनः बोले—यह दया में विश्वास करनेवाला धर्म है। यह व्रतों में अनुरक्त और भोगों से विरक्त श्रमणों द्वारा विभूषित है। यह जगत् में विश्रुत है। यह प्रत्येक व्यक्ति और जाति का धर्म है।

(१७)

अपि भवन् कविताकुसुमाकरो,
यदि मुनेर्न करिष्यसि दर्शनम् ।
तव पतिस्यति दैवसमर्पिता,
करमणी रमणीयतमा बत ॥

(१८)

तव न तच्छुभदं कवितापद-
मुपहृतं न मुनेश्चरणेषु यत् ।
नृपगलस्रजि यन्न विगुम्फितं,
वनसुमं न सुमंगलकारि तत् ॥

(१९)

अथ मदीयहृदि व्युदजागरीत्,
मुनिपदाम्बुज — दर्शनलालसा ।
प्रथममेव भवन्ति फलोदयात्,
सुमनसो मनसो हितकारिकाः ॥

(२०)

यतिवरेण सहैव ततोऽगमं,
गणिवराच्छुभपुण्य — फलाप्तये ।
सुरगणो निजिघृक्षुरिवाम्बुधे-
रमृतकं मृतकं परिरक्षितुम् ॥

(१७)

आप तो काव्य के कुसुमाकर—उद्यान हैं। फिर भी आप यदि गणिवर्य के दर्शन नहीं करते हैं तो मुझे सखेद कहना होता है, दैवयोग से हाथ में आई अत्यन्त श्रेष्ठ मणि को आप फेंक रहे हैं।

(१८)

आपका वह कविता-पद शुभप्रद नहीं होगा, जो गणिवर्य के चरण-कमलों में उपहृत नहीं हुआ। जो वन का पुष्प नृपति के गले की माला में नहीं गूंथा गया, वह कहाँ मंगलकारी है।

(१९)

तब मेरे मन में गणिवर्य के दर्शन की उत्कंठा जागी। फलों के लगने से पूर्व ही मन को उल्लसित करनेवाले फल उत्पन्न हो जाते हैं।

(२०)

गणिवर्य के दर्शन से पुण्यमय शुभ फल पाने की भावना लिये मैं यतिजी के साथ गया; जैसे देवगण निष्प्राणों को जिलाने के लिए समुद्र से अमृत ग्रहण करने गये थे।

(२१)

उपरि रोपितपीठ — परिस्थितं,
धवलवस्त्रलषत् — पिहिताननम् ।
वररजोहरशोभित — सन्निधिं,
वुधनतं धनतंत्रविवर्जितम् ॥

(२२)

मुनिजनैः परितः परिवेष्टितं,
करकुशेशयसाधित — पुस्तकम् ।
मधुरभाषणमोहित — संसदं,
भुवि भवं विभवं सुरसद्मनः ॥

(२३)

समवलोक्य निबद्ध्य करद्वयं,
बहुजनस्थ — मवन्दिषि सत्वरम् ।
बननृपोपम — कालुगणीश्वर-
द्विपदं विपदम्भविनाशकम् ॥

(२४)

उपरि तानित — शेषफणोपम-
कमलकोमल — दक्षिणहस्तकैः ।
गणिवरै — र्जयशब्दवरो निजो,
निजगदे — जगदेकतपोधनैः ॥

(२१)

आचार्यवर ऊपर स्थित पट्ट पर आसीन थे, धवल मुख-वस्त्रिका से ढका जिनका मुख कान्तिमय था, पास में श्रेष्ठ रजोहरण शोभा पा रहा था, विद्वज्जन जिनके सामने विनय से झुके थे। इतना सब कुछ था पर वे अर्थ-तन्त्र से विवर्जित थे। अर्थात् वे सर्वथा निष्परिग्रही थे।

(२२)

वे मुनियों द्वारा सब ओर से घिरे थे। उनके कर-कमल में पुस्तक थी। उनके मधुर भाषण से परिषद् मुग्ध थी। वे यद्यपि पृथ्वी पर उत्पन्न हुए थे पर प्रतीत होता था, मानों वे सुर-लोक के वैभव हों।

(२३)

मैंने देखा—दम्भरूपी विष के विध्वंसक, सिंहोपम श्री कालुगणी बहुत लोगों के बीच में संस्थित थे। मैंने तत्क्षण दोनों हाथ जोड़कर उन्हें वन्दन किया।

(२४)

जगत् के महान् तपस्वी गणिवर ने कमल के समान कोमल अपने दाहिने हाथ को फण ऊपर उठाये शेषनाग की तरह ऊँचा करके वन्दन के उत्तर में उन द्वारा सदा प्रयुज्यमान 'जे' शब्द का उच्चारण किया।

(२५)

गृहिजनान् कृतनीरनिमज्जनान्,
मलयजोपचितान् न निरैक्षिषि ।
जलविनिर्मलता — परिवर्जितान्,
मुनिवरानिव राजितकायिकान् ॥

(२६)

अथ समीपमुपेत्य यशस्विनः,
सहजया कविपद्धतियातया ।
कवितयाऽशु विनिर्मितया मया,
मुनिरयं निरयं दलयन् स्तुतः ॥

(२७)

अरुचिरा कटुका कविताऽपि मे,
गणवताऽभिमता सुधया समा ।
उपहृतिः शबरीफलजा यथा,
हतरसा तरसा रघुसूनुना ॥

(२८)

विशदसंगतवर्णन — संवृतं,
जिनमतं जनमङ्गल — कारकम् ।
गणिवरेण विधाय कृपां ततो,
निगदितं गदितंत्रमिवार्त्तिहम् ॥

(२५)

मैंने वहाँ ऐसे गृही जनों को भी देखा, जो स्नान किये हुए थे, चन्दन से उपचित थे। पर मुझे वे उन मुनियों की तरह देदीप्यमान शरीरवाले नहीं लगे, जो 'मुनि' जल-शुद्धि-स्नान से परिवर्जित थे।

(२६)

इसके अनन्तर मैं यशस्वी गणिवर्य के समीप गया। मैंने नरक का दलन करनेवाले इन गणिवर की अपनी स्वाभाविक, काव्य-शास्त्र के अनुरूप, तत्क्षण रचित कविता द्वारा स्तवना की।

(२७)

गणिवर ने मेरी असुन्दर और कड़वी कविता को भी अमृत के समान माना, जैसे राम ने भीलनी द्वारा समर्पित फलों की नीरस भेंट को समझा था।

(२८)

तब गणिवर ने कृपा करके जन-जन का मंगल करनेवाले, गदि-तन्त्र—आयुर्वेद की तरह पीडा हरनेवाले (आयुर्वेद रोगरूप बाह्य पीड़ा का शमन करता है, जैन दर्शन अनध्यात्म-आचरणरूप आभ्यन्तर पीडा का) जैन सिद्धान्त का मुझे विशद और सुसंगत रूप में उपदेश किया।

(२६)

अतरत — प्रियसाधुसमागम-

मकरवं समयं समुपाव्रजन् ।

गणिपदाब्जगतः समुपाविशत्,

मनसि मे नसि मे सुरभिः शुभः ॥

(३०)

मुनिजनैर्निपुणैः सहितः सुधी-

रुपदिशन् मनुजेषु हिताहितम् ।

दिशि विदिश्यपि कालुगणी व्यधाद्,

विहरणं हरणं च कलिस्थितेः ॥

(३१)

अपथगैः पथि तस्य विरोधिभिः,

परगुणान — भजद्भिरुपद्रुतैः ।

विहितवद्भिरपि प्रणिरोधनं,

न कलितः कलितः स्वमनोरथः ॥

(३२)

गणिमुखाम्बुजमैक्ष्य विकस्वरं,

मधुपसंस्कृत — पण्डितमण्डली ।

समुपसृत्य बभूव गणेशितुः,

पदरताऽदरता बहुमोहिता ॥

(२६)

में जब-जब समय पाता, व्रतपरायण साधुओं के संपर्क में आता रहा। गणिवर के चरण-कमलों का सौरभ मेरे मन और नासिका दोनों में समा गया।

(३०)

विद्वान् श्री कालुगणी ने निपुण मुनियों सहित अनेक दिशाओं में पर्यटन किया। लोगों को यथार्थतः हित क्या है और अहित क्या है—इसका उपदेश किया। उन्होंने कलियुग का प्रभाव एक प्रकार से मिटा डाला।

(३१)

अनुचित पथ पर चलनेवाले, दूसरों के गुणों को न सह सकनेवाले विरोधियों ने उनके मार्ग में रोड़े अटकाये पर उन्होंने कभी भी कलह द्वारा अपना मनोरथ पूरा नहीं किया।

(३२)

श्री कालुगणी के विकसित मुख-कमल को देख संस्कृत के पण्डितरूपी भौंरों की मण्डली वहाँ आ गई। गणिवर द्वारा संस्कृत के प्रति दिखाये गये आदर के कारण वह अत्यन्त मुग्ध होकर उनके चरणों में अनुरक्त हो गई।

(३३)

प्रमुखमूर्खनरैर्बहु — गालिभि-
रुपहृताऽप्यथ साधु — सुसन्ततिः ।
निजगतेर्विचचाल न कुत्रचि-
दपरुषा परुषाक्षरवर्जिता ॥

(३४)

विबुधभाषित — संस्कृतमागधी-
पठनपाठनलेखन — तत्पराः ।
अवगतार्थसटीक — जिनागमा,
मुनिजना निजनाथपरायणाः ॥

(३५)

गणिगणे गणिते गुणिनां गणे,
रसयुताः कविताः समलंकृताः ।
समभवन् पददोषविवर्जिताः,
कविकला विकला न ततोऽभवत् ॥

(३६)

अघहरौ भवतो बहुदुर्लभौ,
दिविपदामपि सद्मनि यादृशौ ।
अगणिता जनता शिवसिद्धये,
निपतिता पतितादृशपादयोः ॥

(३३)

मूढ़ जनों द्वारा बहुत गालियाँ दिये जाने पर भी साधुओं की मण्डली अपनी गति से कभी विचलित नहीं होती क्योंकि वह अपरुषा अर्थात् क्रोधवर्जित और कटुवाणी से रहित थी।

(३४)

विबुधों—देवों अथवा विद्वानों द्वारा भाषित संस्कृत और प्राकृत के अध्ययन, अध्यापन व लेखन में संलग्न, जैन आगमों के अर्थ और टीकाओं के परिज्ञाता मुनिजन अपने स्वामी की सेवा में रत रहते थे।

(३५)

कालुगणी का साधु-संघ गुणियों के समूह में विशेष रूप से गण्यमान था। उसमें (साधु-संघ में) रस तथा अलंकारयुक्त व दोषवर्जित कविताओं का प्रणयन होने लगा। अतएव कवियों का कौशल—कवि प्रतिभा वहाँ कुण्ठित नहीं हुई।

(३६)

स्वर्ग में देवताओं के लिए भी जो दुर्लभ हैं, गणिवर के ऐसे पापनाशक चरणों में असंख्य लोग आत्म-कल्याण साधने के लिए नत होते रहते थे

(३७)

अहमहं मुदितो नवदीक्षया,
मुनि भवामि जहद्गृहविग्रहः ।
इति गणीशमहर्निशमार्थयन्,
विषमये समयेऽपि वहुर्जनः ॥

(३८)

पठितसंस्कृत — जर्मनजातिजो,
निशितधी 'जयकोबि' सुकोविदः ।
जिनमतं विमलं परिशीलितुं,
स्वयमिनं यमिनं समुपागतः ॥

(३९)

कथितवान् स मया त्वरयेक्षित-
मिति जनाः स्वजिनागमरीतितः ।
उपगता मुनिवेषमिमं शुभं,
निजगुरुं जगुरुञ्छितमानसाः ॥

(४०)

विबुध — भिक्षुवरैर्निरमायि यः,
कठिनसंयमि — तेरहपन्थकः ।
व्रतिवरस्तपसां महसां चयो,
हतमलं तमलंकृतवान् गणी ॥

(३७)

सांसारिक जंजाल को छोड़ पहले मैं······पहले मैं दीक्षा प्राप्त कर अपना हित साधूं, इस प्रकार अहमहमिका पूर्वक बहुत से लोग इस विषम काल में भी गणिवर को दीक्षा देने की अहर्निश अभ्यर्थना करते थे।

(३८)

मेधावी, विद्वान् डा० हर्मन जैकोबी, जो जर्मन जातीय था, संस्कृत और प्राकृत का विशेषज्ञ था, विशुद्ध जैन धर्म का परिशीलन करने के लिए स्वयं गणिवर के पास आया।

(३९)

डा० जैकोबी ने तेरापंथ के साधुओं के सम्बन्ध में कहा—मुझे शीघ्र ही ऐसा भान हो गया है कि ये जैन आगमों के विधान के अनुरूप उज्ज्वल मुनिवेष धारण करते हैं और ये निर्मलचेता श्रमण अपने गुरु के गुणों का गान करते हैं—गुरु के प्रति अत्यन्त निष्ठाशील हैं।

(४०)

विद्वान् भिक्षु गणी ने कठोर संयम की नींव पर जिस तेरापंथ का निर्माण किया, व्रतियों में श्रेष्ठ, तप और तेज के निधि श्री कालूगणी ने उस निर्मल संघ को और अधिक अलंकृत किया—उन्नत बनाया।

(४१)

भगवतो महतो जगतः प्रभोः,
सकलजीव — दयामधिकुर्वतः ।
मुनिवरैः कठिनव्रतवर्त्तिभि-
र्भुवि ततं विततं द्विगुणं यशः ॥

जगत् के स्वामी—सन्मार्गदर्शक, महिमामय भगवान् महावीर के लोक-व्यापी यश को कठिन व्रतों का आचरण करनेवाले मुनिवरों ने मानों दुगुना कर दिया।

ओम्

अथ सप्तमः सर्गः

(१)

अभून्महामन्त्रिवरो गुणाब्धिः,
कालूगणीशस्य कुशाग्रबुद्धिः ।
काये दधानः कनकस्य कान्तिं,
मग्नो मुनिर्मानव — माननीयः ॥

(२)

राज्ञां प्रिया न प्रियतां प्रजानां,
प्रजा प्रिया न प्रियतां नृपाणाम् ।
प्रयान्ति तत्तद् विदधौ मृषेति,
सर्वप्रियो मन्त्रिमुनिर्महात्मा ॥

(३)

चतुर्विधं संघमिमं मनीषी,
नीति — स्थितः संगठयांबभूव ।
नोत्कूलतां तेन कदाऽप्ययासीत्,
सुविस्तृत — स्तेरहपन्थसिन्धुः ॥

(४)

व्यस्तस्य नित्यं निजसंघकार्यै,
बहुश्रमात्तेन गणाधिपस्य ।
स्कन्धस्य भारो विहितो लघीयान्,
विवेकिना नेहरुणेव गान्धेः ॥

(१)

श्री कालुगणी के मगन मुनि नामक मन्त्री थे, जो गुणों के सागर थे, कुशाग्र-बुद्धि थे, जिनका शरीर स्वर्ण के तुल्य कान्तिमान् था, जो मानव-समाज के सम्मान भाजन थे।

(२)

जो राजाओं के प्रिय होते हैं, उनको प्रजा का प्यार नहीं मिलता, जो प्रजा का प्यार पाते हैं, वे राजप्रिय नहीं हो पाते। पर सर्वप्रिय महामना मन्त्री मुनि ने इस मान्यता को मिथ्या सिद्ध कर दिया। वे जैसे शासन पति के प्रिय थे, वैसे ही उनके अनुयायीगण के भी।

(३)

बुद्धिमान्, नीति-निपुण मन्त्रिवर ने चतुर्विध संघ को सुसंगठित रखा। जिससे तेरापंथ रूपी विशाल समुद्र ने कभी भी मर्यादा का उल्लंघन नहीं किया।

(४)

संघ के कार्यों में निरन्तर व्यस्त रहते गणाधिप के कन्धों का भार विवेकशील श्री मन्त्री मुनि अत्यन्त परिश्रम कर इस प्रकार हलका बनाये रखते थे, जिस प्रकार श्री नेहरू गाँधीजी के कार्य-भार को अपने सतत सहयोग एवं श्रम से हलका रखा करते थे।

(५)

धर्मस्य नीतेश्च सुभाषितस्य,
काव्यस्य कोषस्य च दर्शनस्य।
नानामुनि — व्याकरणोत्तमस्य,
पूर्वेतिहासस्य च दुर्लभस्य॥

(६)

प्राचीनकाले लिखितान् स्वहस्तैः,
पूर्वैः पुराणैः पुरुषैः प्रवीणैः।
सार्थान् सटीकांश्च सटिप्पणीकान्,
पूर्णानपूर्णा — स्तदजीर्णजीर्णान्॥

(७)

अमुद्रितान् प्राणसमाननिद्रो,
दुर्बोधदारिद्र्य — विनाशनाय।
अन्वेषमन्वेष — मनेकदेशात्,
समग्रहीत् संस्कृतपुस्तकान् सः॥

(८)

विद्यातपोभ्यां परिपूर्णरूपं,
मंत्रं निजं कारयितुं स रेभे।
लेभे विरामं न गणीन्द्रसेवा-
महर्निशं निर्विकृतां वितन्वन्॥

(५-७)

धर्मशास्त्र, नीति, सुभाषित, काव्य, कोष, दर्शन, अनेक मनीषियों द्वारा प्रणीत विभिन्न व्याकरण, प्राक्तन कालीन दुर्लभ इतिहास आदि विषयों के, पुराने समय में तत्कालीन कुशल लेखकों द्वारा लिखित, अर्थ, टीका व टिप्पणी सहित संस्कृत-ग्रन्थ जो अमुद्रित थे, जिनमें कई पूर्ण थे, कई अपूर्ण, कई अच्छी दशा में थे, कई जीर्णावस्था में ; मन्त्री मुनि ने सतत जागरूक रहते हुए अज्ञान रूपी दारिद्र्य के अपाकरण का उद्देश्य लिये विभिन्न प्रदेशों में खोज-खोज कर संगृहीत किये।

(८)

विशुद्ध भाव से रात-दिन गणिवर की सेवा करते हुए मन्त्री मुनि संघ को विद्या और तप से परिपूर्णरूपेण विकसित करने में सयत्न रहते थे। इसमें वे जरा भी विराम नहीं लेते।

(९)

धर्मप्रचाराय निरन्तराय,
स प्रेषयामास विभिन्नदेशान् ।
साधून् स्वकान् साधितमुक्तिमार्गान्,
कालुः कृपालुर्जिनदेवतुल्यः ॥

(१०)

प्रतीक्षितानां समयादनल्पाद्,
गुरोः कृपैका नवदीक्षितानाम् ।
हर्षाय जाताम्बुदवारिबिन्दुः,
पिपासितानामिव चातकानाम् ॥

(११)

यस्यां नगर्यामगमद् गणीश-
स्तत्रैव केचिद् व्रतमाप्तुकामाः ।
वैराग्यभाजो मुनिपं विनेमु-
र्जिघृक्षया भैक्षवसाधुदीक्षाम् ॥

(१२)

तेभ्योऽग्रहीत् किन्तु विवेच्य वाग्मी,
परीक्षकः पूरुषपौरुषस्य ।
वोढुं क्षमं संयमभूरिभारं,
कीलालतो हंस इवाच्छदुग्धम् ॥

(९)

जिनदेव के सदृश, दयामय श्री कालुगणी ने अपने मोक्षमार्गानुगामी श्रमणों को अनवरत धर्म-प्रचार करने के लिए विभिन्न प्रदेशों में भेजा।

(१०)

बहुत समय से जो प्रव्रज्या की प्रतीक्षण में थे, उन पर जब गुरुवर्य का अनुग्रह हुआ अर्थात् गुरुवर्य द्वारा वे दीक्षित कर लिये गये, तो वे इस प्रकार हर्षित हुए, जिस प्रकार प्यासे पपीहे बादल से पानी की बूँद को पाकर होते हैं।

(११)

जिस नगरी में गणिवर गये, वहीं भिक्षु संघ में श्रामण्य-दीक्षा ग्रहण करने की इच्छा से कतिपय वैराग्ययुक्त, व्रतानुरागी व्यक्ति उनसे प्रार्थना करने लगे।

(१२)

जैसे हँस जल में से दूध को छाँट लेता है, उसी तरह विद्वद्वरिष्ठ गणिवर, जो व्यक्ति के पुरुषार्थ के परीक्षक थे, भलीभाँति गवेषणा कर संयम के गुरुतर भार को वहन करने में सक्षम व्यक्तियों को छाँट लेते थे।

(१३)

पत्युः स्त्रियो वाऽपि पितुर्जनन्या,
आज्ञां गृहीत्वा लिखितां करेण।
वेविद्यमाने विपुले समूहे,
स प्रार्थितायार्पयति स्म दीक्षाम् ॥

(१४)

ये वन्दिता येन तनूद्भवेन,
त एव तं तत्पितरः प्रकर्षात्।
गृहीतदीक्षं शिरसा नमन्ति,
त्यागस्य दृष्टो महिमाऽद्भुतोऽयम् ॥

(१५)

वस्त्रैः सितैरावृतगात्रकाणां,
रजोहराग्रं दधतां स्वकक्षे।
दीक्षां नवां प्राप्तवतां मुनीनां,
पाठाय पङ्क्तिर्गुरुमाश्रयन्ती ॥

(१६)

तीरं महामान — सरोवरस्य,
मुक्तां ग्रहीतुं समुपागतानाम्।
श्वेतात्मनामुज्ज्वल — वालधीनां,
मरालकानां जयति स्म शोभाम् ॥

(१३)

पति की, स्त्री की, पिता व माता की हस्ताक्षरांकित स्वीकृति लेकर वे प्रार्थी को विशाल जन-समूह के मध्य दीक्षित करते थे।

(१४)

जो पुत्र दीक्षित होने से पूर्व जिन पिता आदि बड़ों को प्रणाम करता था, वे ही बड़े-बूढ़े दीक्षा लेने के पश्चात् उसे शिर से नमन करते हैं। यह त्याग का अद्भुत महात्म्य है।

(१५)

सफेद वस्त्रों से अपना शरीर ढके, रजोहरण के अग्रभाग को अपनी बगल में दबाये नव दीक्षित मुनियों की मण्डली पाठ लेने के लिए गुरुवर्य के पास आती थी।

(१६)

वह मुनि-मण्डली मानसरोवर के तट पर मोती चुगने के लिए आये हुए उजली पूँछवाले सफेद हँसों की शोभा हर लेती थी। अर्थात् उन हँसों की पंक्ति से वह मुनि-पंक्ति कहीं अधिक शोभापन्न थी।

कवि तेरापंथ के मुनिगण का सामष्टिक रूप में वर्णन करता है—

(१७)

अधीतिनो व्याकरणे च काव्ये,
कोपे च तर्के च जिनागमे च।
अन्यासु भाषास्वपि देशजासु,
विदेशजासु प्रभवद् गुणासु ॥

(१८)

आवश्यकं नैतिकनित्यकर्म,
स्वाध्याय — मेकान्तविधीयमानम्।
वितन्वतो वा वरवन्दनादिं,
गुरोः स्वतो वृद्धमुनीश्वराणाम्॥

(१९)

स्वाम्याज्ञया संसदि भाषमाणान्,
समागतान् शिक्षयतोऽनुरक्तान्।
प्रश्नोत्तरैः शास्त्रविधिप्रयुक्तै-
र्लोकान् समातोषयतो वरिष्ठान्॥

(२०)

रात्रौ सदा रम्यरजोहरेण,
विशोध्य पृथ्वीं धृतपादयुग्मान्।
जीवैः सुतुच्छैरपि मुक्तमम्भो,
विगाल्य वस्त्रेण निपीयमानान्॥

(१७)

व्याकरण, काव्य, कोष, तर्क, जैन आगम आदि का वे अध्ययन करनेवाले हैं। साथ ही साथ भारतीय भाषाओं तथा महत्त्वपूर्ण वैदेशिक भाषाओं का भी वे अनुशीलन करते हैं।

(१८)

अपने आवश्यक आचार से सम्बद्ध क्रियाओं में वे जागरूक हैं। एकान्त में स्वाध्याय करते हैं। गुरु तथा अपने से दीक्षा में वृद्ध मुनियों को वे वन्दन आदि करते हैं।

(१९)

आचार्य की आज्ञा से वे परिषद् में प्रवचन करते हैं, समागत लोगों को शिक्षा देते हैं। अपने सम्मुख प्रस्तुत प्रश्नों का शास्त्रीय विधि से उत्तर देते हुए वे बुद्धिमान् मनुष्यों को परितुष्ट करते हैं।

(२०)

रात को अपने सुन्दर रजोहरण से पृथ्वी का शोधन कर अपने दोनों पैर रखते हैं। छोटे-छोटे जीवों से शून्य जल को भी छानकर पीते हैं।

(२१)

विवर्जितेभ्योऽपर — भिक्षुवृन्दै-
रादाय भिक्षां बहुशो गृहेभ्यः ।
गृहाश्रमस्थैः स्वकृते कृतान्न-
शेषान् मुदा भक्षयतश्च भक्ष्यान् ॥

(२२)

रोगैरसाध्यैः परिपीडितेऽपि,
क्षुधातृषाव्याकुलितेऽपि काये ।
अभुञ्जमानान् सति भास्करास्ते,
प्राणेषु कण्ठेऽपि समागतेषु ॥

(२३)

वस्त्राणि पात्राणि च संख्ययैव,
जैनागमानां विधिना दधानान् ।
शीतेऽप्यनाधारयतः कदापि,
हिमापहत्वा — दनुकूलतूलम् ॥

(२४)

नाडीव्रणानप्यथ — शल्यवैद्य-
हस्तै — रनाच्छेदयतः सशस्त्रैः ।
शल्यक्रियां कारयतश्च तेषां,
स्वसाधुहस्तेन तदस्त्रभाजा ॥

(२१)

गृहस्थों द्वारा अपने लिये बनाये गये भोजन में से कुछ-कुछ वे उन बहुत से घरों में से, जहाँ अन्य भिक्षु उपस्थित न हो, भिक्षा के रूप में लाकर अशन-क्रिया सम्पादित करते हैं।

(२२)

चाहे असाध्य रोगों से पीड़ित हों, शरीर भूख और प्यास से व्याकुल हो, चाहे प्राण निकलने लगें पर वे सूर्यास्त के पश्चात् कुछ खाते-पीते नहीं।

(२३)

जैन आगमों में निर्दिष्ट संख्या के अनुसार वे परिमित वस्त्र, पात्र आदि धारण करते हैं। शीतकाल में भी वे सर्दी को दूर करनेवाली रूई—रजाई आदि का प्रयोग नहीं करते।

(२४)

जो नाड़ी-व्रण—नासूर आदि का भी डाक्टरों से, जिनके पास औजार आदि के रूप में सब साधन हैं, ऑपरेशन नहीं कराते; बल्कि अपने संघ के साधुओं से ही ऑपरेशन कराते हैं, जो डाक्टरों से औजार मांगकर ले आते हैं।

(२५)

अगृह्णतो वा व्यजनास्रवातं,
स्वेदार्द्र देहेऽपि दहन्निदाघे,
अनादधानानपि चातपत्र-
मसह्यवर्षातप — वारणाय ॥

(२६)

उपानहौ चाऽधरतः पदेषु,
पृथ्वीतले भूरि हिमेन शीते।
घोरेण घर्मेण तथा महोष्णे,
मार्गे तथा कण्टकदुर्गमेऽपि ॥

(२७)

एकाकिनीं स्त्रीमविभाषमाणान्,
सस्त्रीकगेहे त्यजतो निवासान्।
दष्टेऽप्यसंख्यैर्मशकै — र्निशाया-
मच्छायके सद्मनि चाशयानान् ॥

(२८)

असंशयानान् स्वजिनागमेषु,
गुरून् जिनेन्द्रानिव मन्यमानान्।
तदीय — निर्देशनवर्त्तमानान्,
सर्वस्वमप्यर्पयत — स्तदंघ्रौ ॥

(२५)

धधकती हुई ग्रीष्म ऋतु में शरीर से पसीना चू जाने पर भी वे पंखे से हवा नहीं लेते। असह्य वर्षा व धूप से बचने के लिए वे छाता काम में नहीं लेते।

(२६)

पृथ्वीतल चाहे बर्फ से ठण्डा हो गया हो, भयानक गर्मी से चाहे वह जल उठा हो तथा मार्ग चाहे काँटों से भरा होने से दुर्गम हो पर वे कभी जूतों का प्रयोग नहीं करते।

(२७)

वे एकाकिनी नारी के साथ संभाषण नहीं करते। जिस मकान में स्त्री रहती हो, उसमें निवास नहीं करते। रात को असंख्य मच्छरों द्वारा काटे जाने पर भी वे अच्छाय—बिना छत के घर में शयन नहीं करते।

(२८)

जैन आगमों में वे जरा भी संशय नहीं करते। गुरु को वे तीर्थंकर के तुल्य मानते हैं। सदा उनके निर्देशन में रहते हैं। गुरु के चरणों में उनका सब कुछ समर्पित है।

(२९)

स्वयं गुरूणां पठतः पदेषु,
साधून् लघून् पाठयतोऽपि नित्यम् ।
पाठेन लेखेन सुभाषणेन,
सार्धं सदा यापयतः स्वकालम् ॥

(३०)

स्नानं विनाऽप्युज्ज्वलकृत्स्नकायान्,
स्निग्धायमानानपि तैलवर्जान् ।
अनञ्जनान् जातविशालनेत्रान्,
अपादुकान् कोमलपादयुग्मान् ॥

(३१)

तान् नापितैर्नापि तदीयशस्त्रैः,
क्षौराण्यथाकारयतः सदैव ।
स्वसाधुभिर्लुञ्चयतः स्वकेशान्,
स्पष्टेऽपि कष्टे धरतः स्थिरत्वम् ॥

(३२)

अगृह्णतश्चार्थ — मनर्थमूलं,
स्वतो विरक्तान् क्रयविक्रयाभ्याम् ।
अगोतुरङ्गोष्ट्र — गजाव्यजादी-
नकिञ्चनान् केवलसंयमस्वान् ॥

(२९)

वे स्वयं गुरु के चरणों में बैठ विद्यानुशीलन करते हैं। नित्य छोटे साधुओं को पढ़ाते हैं। अध्ययन, लेखन एवं भाषण से अपने समय का सार्थकता से यापन करते हैं।

(३०)

स्नान के बिना भी उनके शरीर में औज्ज्वल्य है। बिना तैल के उनके शरीर में स्निग्धत्व है। वे अंजन नहीं आँजते, फिर भी उनके नेत्र विशाल हैं। वे जूते नहीं पहनते पर उनके चरणों में कोमलता है।

(३१)

वे नापितों से कभी हजामत नहीं बनवाते, न उनके औजारों का ही वे प्रयोग करते हैं। वे अपने संघ के साधुओं से अपने केशों का लुञ्चन करवाते हैं। यह साफ है, कितना बड़ा कष्ट यह है पर उसमें वे स्थिर रहते हैं।

(३२)

धन, जो अनर्थ का मूल है, उसे वे ग्रहण नहीं करते। क्रय, विक्रय आदि से वे स्वतः विरक्त हैं। उनके न गायें, न घोड़े, न ऊँट, न हाथी, न भेड़ें और न बकरियाँ ही हैं। वे अकिञ्चन— निष्परिग्रही हैं।

(३३)

अभ्यस्यतः —स्वास्थ्यसुधारहेतो—
योगासनं नाशनमामयानाम् ।
शौचक्रियार्थं व्रजतोऽतिदूरं,
दुर्गन्धवन्ध्यं स्थलमच्छवातम् ॥

(३४)

आविष्कृतैर्दृष्टिविशुद्धि — हेतोः,
काचैरनावारयतः स्वनेत्रम् ।
अधातुभिः काचसदृक्पदार्थै-
विनिर्मितैर्बाधित — दृक्प्रदोषान् ॥

(३५)

एकत्र मासादधिकं कुहापि,
ग्रामे नगर्यामविलीयमानान् ।
निर्दिष्टमेवाहत — सर्वसूत्रै-
र्हित्वा चतुर्मासविशेषवासम् ॥

(३६)

षण्मासपर्यन्त — मथोपवासं,
कृत्वाऽपि कायामविमुञ्चमानान् ।
आजीवनं त्यक्तसमस्तभक्ष्यान्,
दिवौकसामोकसि काशमानान् ॥

(३३)

स्वास्थ्य के सुधार के लिए वे रोगनाशक योगासनों का अभ्यास करते हैं। शौच-क्रिया के लिए वे दुर्गन्ध-वर्जित, स्वच्छ वायुयुक्त, अति दूरवर्ती स्थान में जाते हैं।

(३४)

दृष्टि की शुद्धि के लिए—ठीक दिखाई देने के लिए बनाये गये काच के चश्मों को वे धातुनिष्पन्न होने के कारण आँखों पर नहीं लगाते। काच के समान ही अधातुनिष्पन्न अन्य पदार्थों से बनाये गये चश्मों द्वारा वे अपने नेत्रों का दोष दूर करते हैं।

(३५)

जैसा कि जैन आगमों में निर्देशित है, वे चातुर्मासिक प्रवास को छोड़ किसी भी ग्राम या नगर में कहीं भी एक मास से अधिक प्रवास नहीं करते।

(३६)

छह-छह मास तक की तपस्याएँ करते हुए भी उनका शरीर बना रहता है। आजीवन समस्त खाद्य-पेय पदार्थों का परित्याग कर—आमरण अनशन स्वीकार कर वे स्वर्गगामी होते हैं।

(३७)

अयाचने भाद्रपदस्थ — शुक्ल-
पक्षोत्थ — सांवत्सरिकैकवस्त्रे ।
प्राणान्त — कष्टेऽप्यनिषेवमाणा-
नन्नं च पानं च महौषधं च ॥

(३८)

स्वं स्वं सदा भिक्षितवस्तुजातं,
पादेषु चोपाहरतो गुरूणाम् ।
तद्दत्तमेवानयतः पुनस्तद्,
धरामिव स्वाम्बु पयोदलब्धम् ॥

(३९)

महाद्भुतां — स्तेरहपन्थसाधून्,
विलोक्य लोकाश्चकिता अभूवन् ।
ऊचुः परे क्वापि परत्र सन्ति,
नैते गुणा आधुनिकेषु पुंसु ॥

(४०)

देशे विदेशे भ्रमताऽर्हतेन,
कालुगणीशेन महोदयेन ।
आगामि चूरूनगरेऽग्रगण्ये,
धर्मप्रधाने गुणिगण्यपूर्णे ॥

(३७)

भाद्रपद मास के शुक्ल पक्ष में सांवत्सरिक पर्व के दिन प्राणान्त कष्ट आजाने पर भी वे अन्न, पानी, औषधि—कुछ भी सेवन नहीं करते।

(३८)

जो कुछ उन्हें भिक्षा में प्राप्त होता है, उसे गुरुवर के चरणों में लाकर रख देते हैं। जैसे पृथ्वी मेघ द्वारा दिया हुआ अपना जल ग्रहण करती है, उसी प्रकार गुरुवर द्वारा जो दिया जाता है, उसे वे ग्रहण करते हैं।

(३९)

तेरापंथ के ऐसे अत्यन्त अद्भुत साधुओं को देख लोग चकित हो गये और वे कहने लगे—आज के मनुष्यों में अन्यत्र कहीं भी ऐसे गुण नहीं मिलते।

(४०)

जैनाचार्य, परम प्रभावक श्री कालुगणी देश-प्रदेश में घूमते हुए अति विख्यात, धर्म-प्रधान, गुणिजनपूरित चूरू नगर में आये।

(४१)

तत्रागमत् कश्चन लाडनूस्थो,
वैराग्यभाक् झूमरमल्लपुत्रः ।
चम्पादिलालो विकसन्मुखाब्जो,
दीक्षां ग्रहीतुं गणिपूज्यपादात् ॥

(४२)

परीक्षितो भूरि कुलेऽनुकूले,
जातः प्रदोषैं रहितः समस्तैः ।
स दीक्षितः पूर्णकृपां विधाय,
एकाष्टनिध्येक — सुशोभितेऽब्दे ॥

(४१)

लाडनूं निवासी श्री झूमरमलजी खटेड़ के पुत्र वैराग्यवान्, प्रसन्नवदन श्री चम्पालालजी गणिवर से श्रमण-दीक्षा ग्रहण करने वहाँ आये।

(४२)

वे उत्तम कुलोत्पन्न थे, सब प्रकार के दोषों से रहित थे। गणिवर ने उनकी परीक्षा कर पूर्ण कृपा करते हुए उन्हें दीक्षा प्रदान की। यह विक्रम संवत् ११८१ की घटना है।

ओम्

अथ अष्टम: सर्ग:

(१)

अथो व्यतीते समये प्रभूते,
देशाननेकान् निकटातिदूरान् ।
भद्रोपदेशेन निरन्तरेण,
विधाय सद्धर्मसमृद्धिवृद्धीन् ॥

(२)

कालूगणी साधुमणी विहारं,
कुर्वन् समेतः श्रमणैः स्वकीयैः ।
धर्मे रतानां नगरे नराणां,
समागतो लाडनुनामधेये ॥

(३)

तत्रैक — संख्येयखटेड़जातौ,
श्रीराजरूपस्य पवित्रपौत्रः ।
बालो लघीयान् तुलसीति नाम्ना,
रत्नाकरे रत्नमिव न्यवात्सीत् ॥

(४)

गृहाश्रमं निम्बमिवात्यहृद्यं,
विमोक्तुकामो विकटं कटुत्वात् ।
द्राक्षामिव स्वादुफलं जिघृक्षु-
र्माधुर्यधुर्यं शुभसंयमं सः ॥

(१-२)

निकटवर्ती तथा दूरवर्ती अनेक प्रदेशों में अपने कल्याणकारी उपदेश से सद् धर्म का विकास एवं अभिवर्धन कर साधुओं के शिरोमणि श्री कालुगणी अपने श्रमण-वृन्द के साथ विहार करते हुए बहुत दिन बाद धर्मानुरागी जनों की नगरी लाडनूं में आये।

(३)

वहाँ खटेड नामक सुप्रसिद्ध जाति में श्री राजरूपजी का पौत्र तुलसी नामक नन्हा सा सौम्य बालक समुद्र में रत्न की तरह निवास करता था।

(४)

वह क्लेशप्रसू व अमनोज्ञ गृह-वास को नीम की तरह कडुआ जान छोड़ना चाहता था और शुद्ध संयम को द्राक्षा-फल की तरह अत्यन्त मधुर तथा सुस्वादु जान ग्रहण करना चाहता था।

(५)

सतीषु साधुष्वपि संगतित्वात्,
संस्कारतः पूर्वभवागताच्च ।
तद्भावनाऽजायत जन्मजात-
दोषानशेषान — पहर्तुमेव ॥

(६)

तस्य व्यतीयाय मुहुर्मुहूर्त्त,
वर्षेण तुल्यं गृहसंस्थितस्य ।
माकन्दमिच्छोर्न बलादसह्या,
गुञ्जस्थितिः किं किल कोकिलस्य ॥

(७)

नृत्येषु गीतेषु मनोहरेषु,
रेमे मनस्तस्य न नाटकेषु ।
न कन्दुकक्रीडनके तथा सः,
नादीव्यदक्षैः सचिपक्षपक्षैः ॥

(८)

न षड्रसेषूत्तम — भोजनेषु,
भोक्तुरा रुचिस्तस्य च नीरसस्य ।
द्राक्षामिव ताम्बूल — जयाहिफेनै-
र्माधुर्यधुर्य सरलः स आसीत् ॥

(५)

साधु-साध्वियों की संगति तथा पूर्व जन्म के संस्कारों के कारण उसमें यह भावना जागी कि उसे जीवन के समस्त दोष मिटाने हैं।

(६)

घर में रहते उसके एक मुहूर्त्त भी वर्ष के समान बीतता था। आम को चाहनेवाली कोयल को यदि बलात् बन्धन में डाल दिया जाए तो क्या यह स्थिति उसे असह्य नहीं होती ?

(७)

उस बालक का मन सुन्दर नृत्य, गान, नाटक, गेंद के खेल आदि में नहीं लगता था। न उस पासे के खेल में उसे अनुराग था, जो पक्ष और विपक्ष—हार और जीत के रूप में खेला जाता है।

(८)

उस आसक्ति शून्य बालक की षड् रस युक्त उत्तम भोज्य पदार्थों में कोई रुचि नहीं थी। तम्बाकू, पान, भंग एवं अफीम से वह सदा दूर रहता था।

(९)

विद्यालयेऽधीत — गृहस्थयोग्य-
व्यापारविद्योऽपि शर्म न लेभे ।
वब्बूलमाचूलमथो निषिच्य,
फलं नयेत् कः पिकवल्लभस्य ॥

(१०)

न वाक्ययुद्धं न च मल्लयुद्धं,
न स्त्रीविवादं न कुचक्रतर्कम् ।
नाऽगेयगानं न च गालिदानं,
चकार केश्चित् सह बालकोऽयम् ॥

(११)

व्याधेन जालेऽन्नकणे विकीर्णे,
लुब्धां निबद्धामिव पक्षिजातिम् ।
मां मायया दत्तकषायमुग्धं,
समुद्दिधीर्षुः समुपागतोऽयम् ॥

(१२)

गणीश्वरं तं परिषत्स्थलस्थं,
निवेदये हार्दिककष्टवृत्तम् ।
इति प्रणिश्चित्य स माहसेन,
गुरूनवन्दिष्ट समीपमेत्य ॥

(९)

विद्यालय में गृहि-जीवनोपयोगी विद्या का उसने अध्ययन किया पर उसे शान्ति नहीं मिली। बबूल को चोटी तक सींचकर भी क्या उससे आम का फल प्राप्त किया जा सकता है ?

(१०)

वह बालक न किसी से वाग्युद्ध करता, न कुश्ती लड़ता, न स्त्रियों से विवाद करता, न कुतर्क करता, न गाने योग्य गीत गाता, और न किसी को गाली देता।

(११)

उस बालक ने सोचा—आचार्य कालुगणी माया से उत्पन्न कषायों में ग्रस्त मुझको उनसे छुड़ाने आये हैं, जैसे शिकारी द्वारा अनाज के दाने बिखेर दिये जाने पर लोभवश जाल में फँसे पक्षियों के समूह को कोई निकालने आया हो।

(१२)

सभा-स्थल में स्थित गणिवर्य को मैं अपने हृदय की वेदना भरी बात निवेदित करूँ—यों निश्चय कर वह बालक साहस लिये गुरुवर्य के समीप आया, वन्दना की।

(१३)

ऊर्ध्वासनस्थं मुनिमुन्मुखोऽय-
मुत्थाय बद्ध्वाऽञ्जलिमुज्जगाद ।
त्रायस्व मां नाथ ! विनाऽथ न त्वां,
कोऽपीतरो मे सफलः सहायः ॥

(१४)

मामुद्धर त्वं जगदम्बुराशे-
र्नष्टो भविष्यामि विना कृपां ते ।
प्रयच्छ मह्यं शुभसंयमं त्वं,
वन्दे त्वदीयं चरणारविन्दम् ॥

(१५)

महोदरं स्वं जगदब्धिमध्ये,
विलोक्य मग्नं बहिराप्तुकामः ।
अवर्द्धयद् दक्षिणपाणिमाशु,
पारं स्थितश्चम्पकनामसाधुः ॥

(१६)

रजोहरं स्वं प्रणिधाय कक्षे,
बद्ध्वाऽञ्जलिं संमुखमेत्य शीघ्रम् ।
स्पृशन् ललाटेन पदाब्जपांशुं,
रामं हनूमानिव कालुमूचे ॥

(१३)

ऊँचे आसन पर संस्थित गणिवर के सम्मुख जा, हाथ जोड़ बोला—"हे स्वामी ! मुझे त्राण दें। आपके अतिरिक्त दूसरा कोई मेरा सहायक नहीं है।

(१४)

आप संसार-समुद्र से मेरा उद्धार करें। आपके अनुग्रह के बिना मैं नष्ट हो जाऊँगा। आप मुझे उज्ज्वल संयम प्रदान करें। मैं आपके चरण-कमलों में नमन करता हूँ।"

(१५)

अपने भाई को संसाररूपी समुद्र के बीच डूबते देखकर, उसके (संसार-समुद्र के) पार खड़े श्री चम्पक नामक साधु (भ्रातृवर्य मुनि श्री चम्पालालजी) ने उसे निकालने के लिए अपना दाहिना हाथ आगे बढ़ाया।

(१६)

अपना रजोहरण बगल में रख, शीघ्र गुरुवर्य के सम्मुख आ, हाथ जोड़, चरण-कमलों की धूलि को अपने ललाट से छूते हुए वे कालूगणी से निवेदन करने लगे, जैसे हनुमानजी रामचन्द्रजी को करते थे।

(१७)

प्रभो ! प्रभूता करुणा त्वदीया,
निस्तारितोऽहं गहनाद् भवाब्धेः।
कथं सहे तत्र सहोदरं स्व-
मिमं निमज्जन्तमहं कृपालो ॥

(१८)

एतं त्वरा तारय मामिव त्वं,
गुणैः समस्तैः सहितं प्रकृष्टैः।
मनोहरं तद् वचनं निशम्य,
स्मेराननः पूज्यवरो बभूव ॥

(१९)

मग्नो मुनिर्मन्त्रिवरोऽपि रत्न-
मयत्नतः प्राप्यमिदं विदित्वा।
परीक्षकाणां प्रमुखो नृजाते-
र्नालस्यमालम्ब्य गुरोर्विनत्याम् ॥

(२०)

संप्रार्थितः संप्रति मन्त्रिणाऽपि,
दीक्षाप्रदानाय सुबालकस्य।
उत्थाप्य सन्यं स्वकरं गणीशो,
गम्भीरधीरस्वरतो बभाषे ॥

(१७)

"भगवन्! आपने बड़ी कृपा की, मुझे गहन संसार-समुद्र से तार दिया—पार कर दिया। हे कृपालो! अब मैं उसी संसार-समुद्र में अपने भाई को कैसे डूबता देख सकता हूँ?

(१८)

मेरी तरह इसे भी शीघ्र तारिए, यह समस्त उत्कृष्ट गुणों से युक्त है।" उनका यह मनोज्ञ वचन सुनकर पूज्यवर मुसकराने लगे।

(१९)

परीक्षकों में श्रेष्ठ मन्त्रिवर श्री मगन मुनि ने भी इस रत्न को बिना प्रयास प्राप्त होते जान गुरुवर को प्रार्थना करने में जरा भी आलस्य नहीं किया।

(२०)

उस बालक को दीक्षा प्रदान करने के लिए जब मन्त्री मुनि ने निवेदन किया तो गणीश अपना दाहिना हाथ ऊँचा उठा कर धीर, गम्भीर स्वर में बोले।

(२१)

त्वं बाल ! संपालय गेहिधर्मं,
सर्वैरगम्यो भुवि साधुमार्गः ।
कैलासशैलं शिवशङ्करस्य,
नारोढुमर्हाः सकला मनुष्याः ॥

(२२)

आकर्ण्य वाणीमिति साधुभर्तु-
र्निमील्य नेत्रे प्रणिवद्ध्य हस्तौ ।
निम्नाननीभूय दृढप्रतिज्ञः,
प्राचीकटत् स्वं मनसो रहस्यम् ॥

(२३)

ददासि नाज्ञां यदि संयमस्य,
यमस्य दंष्ट्रापरिभञ्जकस्य ।
प्रत्यक्षसाक्ष्ये तव पूज्यवर्य !
त्यागं करोम्यद्य गृहाश्रमस्य ॥

(२४)

जाता तदानीं चकितायमाना,
सर्वा सभा बालसदाग्रहेण ।
ऊचुः प्रभो ! उद्धर बालमेन-
मेकस्वरेणेति समे सदस्याः ॥

(२१)

"बालक ! तू गृहि-धर्म—श्रावक-व्रतों का पालन कर। साधु-मार्ग बड़ा दुर्गम है। सब कोई उस पर चल नहीं सकते। एवरेस्ट चोटी पर चढ़ने में सब लोग सक्षम नहीं होते।

(२२)

संघपति का यह कथन सुनकर दृढ़प्रतिज्ञ बालक ने आँखें मूँद, हाथ जोड़, मुँह नीचा कर अपने मन का रहस्य यों प्रकट किया।

(२३)

पूज्यवर ! यमराज की डाढ़ तोड़नेवाले संयम में दीक्षित करने की स्वीकृति यदि आप मुझे नहीं देते हैं तो मैं आपकी साक्षी से गृहाश्रम का त्याग करता हूँ अर्थात् आजीवन ब्रह्मचर्य स्वीकार करता हूँ।

(२४)

बालक के इस सद् आग्रह को देख सारी सभा चकित हो गई। सभा में स्थित सब व्यक्ति एक स्वर से कहने लगे—प्रभो ! इस बालक का उद्धार कीजिए।

(२५)

श्रुत्वा प्रतिज्ञां कठिनां तदीय-
मुखेन बालस्य गणीन्द्रवर्यः ।
समर्थनं वा विहितं तदीयं,
सभास्थितै — स्तत्परिवारजैश्च ॥

(२६)

कृशानुना स्वर्णमिव प्रतप्तं,
कृष्टं परोक्षेऽपि परीक्षयेमम् ।
विज्ञाय दोषै रहितं सुयोग्य-
मङ्गीचकार स्वमुनिं विधातुम् ॥

(२७)

क्रुद्धान्मुखं व्याददतः फणीन्द्राद्,
वज्रात् कठोरात् पततः शिरस्तः ।
आकण्ठमागच्छ — दगाधतोया-
दुद्धार्यमाणं स्वमवैत्स बालः ॥

(२८)

सुधां समुद्रादिव मथ्यमानात्,
फलं सुरद्रोरिव कल्पवृक्षात् ।
देवेतरेणापि स लभ्यमानं,
स्वेन व्रतं साधुपतेरमंस्त ॥

(२५)

गुरुवर ने उस बालक के मुँह से कठिन प्रतिज्ञा को सुना, सभा में स्थित लोगों द्वारा तथा उसके कुटुम्बी जन द्वारा किया गया समर्थन भी सुना।

(२६)

जैसे आग में सोना तपाया जाता है, उसी तरह आचार्यवर ने परोक्ष में भी उस बालक को परीक्षा में तपाया। अर्थात् भली-भाँति उसे परीक्षा की कसौटी पर कसा। उन्होंने जाना कि यह बालक दोषों से रहित है, सुयोग्य है। तब उन्होंने उसे दीक्षा के लिए स्वीकृति प्रदान कर दी।

(२७)

उस बालक ने ऐसा अनुभव किया, मानो वह मुँह फाड़े, क्रुद्ध साँप के मुख से निकाला जा रहा है, शिर पर पड़ते कठोर वज्र के प्रहार से बचाया जा रहा है, गले तक आये अगाध जल से निकाला जा रहा है।

(२८)

अपने द्वारा संघपति से प्राप्त किये जा रहे व्रत को उसने ऐसा माना, जैसे कोई देवेतर मथे जाते समुद्र से अमृत और कल्प-वृक्ष से उसका फल पा रहा हो।

(२९)

शोकेऽपि हर्षोऽजनि बान्धवानां,
कल्याणमासीत् कटुकौषधेऽपि।
महामहिम्न्यो महिलाः प्रजाताः,
गृहे गृहे मङ्गलगानमग्नाः ॥

(३०)

समर्थिता स्वात्मजसंयमाप्ति-
र्भद्राय बुद्ध्वा वदनाजनन्या।
आज्ञां ददत्यात्मभुवे वनाय,
कौशल्यया हृद्गतशल्यमेव ॥

(३१)

असारसंसारतलेऽपि लभ्यं,
दैवैरगम्यं मणिनिर्मलाभम्।
स्वं संयमं संप्रति साररूपं,
दृष्ट्वा प्रहृष्टस्तुलसीर्वरिष्ठम् ॥

(३२)

अस्मासु वृद्धेषु युवस्वपीत्थं,
त्यागो न संजागरितः कदापि।
एवं निजात्मानमनेकलोको,
निनिन्द बालं व्रतिनं विलोक्य ॥

(२९)

जैसे कटु औषधि खाते हुए भी व्यक्ति उसमें हित देखता है, उसी प्रकार उसके बन्धु-जनों ने शोक में भी हर्ष का अनुभव किया। कुलीन नारियाँ घर-घर में मंगल-गान करने लगीं।

(३०)

अपने पुत्र राम को वन जाने की आज्ञा देती हुई कौशल्या जी के समान माता वदनांजी ने हृदय में वेदना होते हुए भी पुत्र के आत्म-कल्याण को दृष्टि में रख उसे दीक्षित होने की आज्ञा दी।

(३१)

इस असार संसार में प्राप्त करने योग्य, देवताओं के द्वारा भी अलभ्य, जीवन का सारभूत उत्तम तत्त्व संयम मुझे प्राप्त होगा, यह सोच बालक तुलसी बहुत प्रसन्न हुआ।

(३२)

व्रतोन्मुख बालक को देख अनेक लोग अपने आपकी निन्दा करने लगे कि वृद्ध और युवक होने के बावजूद हमारे में कभी यह भावना जागृत नहीं हुई।

(३३)

अस्मासु जातस्तुलसीरिदानीं,
चिन्तामणिः सर्वमणिप्रकृष्टः ।
द्विपेषु चैरावत एक एव,
मिथः समाख्यंस्तुलसीवयस्याः ॥

(३४)

महापुरी लाडनुनामधेया,
दीक्षोत्सवायाति—सुसज्जिताऽभूत् ।
विनाऽपि कालादजनि स्वभावाद्,
दीपावलीनां विमलः प्रकाशः ॥

(३५)

वीथीषु वीथीष्ववगत्य बालाः,
स्त्रियो युवानो जरठाश्च तुष्टाः ।
चक्रु मिलित्वा जयकारशब्दं,
कालूगणीशस्य जिनोपमस्य ॥

(३६)

स्वर्गाङ्गणेऽगुञ्ज — दथोर्ध्वमेत्य,
नादः कृतो दुन्दुभिभिर्गभीरः ।
मुक्तिं वधूं संपरिणेतुकामो,
मतो मनुष्यैस्तुलसीर्वरैकः ॥

(३३)

बालक तुलसी के मित्रजन आपस में बातें करने लगे—हमारे में तो एक तुलसी ही सब मणियों में उत्तम चिन्तामणि और सब हाथियों में वरिष्ठ ऐरावत उत्पन्न हुए।

(३४)

दीक्षा-महोत्सव के लिए महानगरी लाडनूं खूब सजाई गई। बिना ही समय के अर्थात् दीपावली पर्व के आये बिना ही वहाँ दीपावलियों का उज्ज्वल प्रकाश फैल गया।

(३५)

गली-गली में बालक, स्त्रियाँ, युवक, वृद्ध—सभी प्रहृष्ट होते हुए एक साथ मिल तीर्थंकर के तुल्य श्री कालुगणी का जय-जयकार करने लगे।

(३६)

दुन्दुभियों के गम्भीर नाद ने ऊपर पहुँच स्वर्ग के आँगन को भी गुँजा दिया। सब लोगों ने माना, तुलसी मुक्तिरूपी वधू के परिणयेच्छु वर हैं।

(३७)

विनिर्मिता तैर्वरयात्रिकैका,
सर्वैरतुल्या तुलसीवरस्य।
आभूषिताङ्गैः कनकैस्तुरङ्गै-
र्वाद्यैश्च गीतैश्च सुशोभमाना ॥

(३८)

गृहे गृहे मुक्तिवरं तमेतं,
निमन्त्रयामासु — रनेकलोकाः।
ततस्त्वागतं स्वीकृतवाननिच्छू,
रीतिर्जगत्या न विमोक्तुमर्हा ॥

(३९)

तत्रत्यभोज्येषु मनोहरेषु,
न तन्मनो मोहमियाय किञ्चित्।
फलेऽमराह्वे सुरुचिस्तदीया,
जाता स्वयं मुक्तिवधूप्रदत्ते ॥

(४०)

कृता परीक्षा वहुशोऽपि तस्य,
विरागिणो वाञ्छितसंयमस्य।
परन्तु तस्य स्खलनं कुहापि,
ज्ञातं न वाग्मिप्रवरैः कथञ्चित् ॥

(३७)

उन सबने वर तुलसी की अनुपम बरात सजाई, जो स्वर्ण के आभरणों से सुसज्ज घोड़ों, बाजों और गीतों से सुशोभित थी।

(३८)

मुक्ति-वधू के वर तुलसी को अनेक लोगों ने अपने-अपने घर निमन्त्रित किया। तुलसी ने अनिच्छुक होते हुए भी उन द्वारा किये गये स्वागत को स्वीकार किया क्योंकि लौकिक रीति छोड़ी नहीं जा सकती।

३६)

वहां के मनोहर भोज्य पदार्थों में उसका मन जरा भी लुभाया नहीं। उसे तो मुक्तिरूपी वधू द्वारा दिये जानेवाले अमरत्व रूप फल में अभिरुचि थी।

(४०)

संयम चाहनेवाले उस वैराग्यवान् बालक की अनेक प्रकार से परीक्षा की गई पर समझदार व्यक्तियों ने उसे कहीं भी स्खलित नहीं पाया।

(४१)

विहाय गेहं तुलसि! प्रयासि,
ततोऽधुना रूप्यशतं गृहाण।
अर्थः सहायो हि विपत्तिकाले,
इत्यब्रवीन्मोहनलाल — बन्धुः ॥

(४२)

अनर्गलं वाक्यमिदं ब्रवीषि,
भ्रातर्वरिष्ठः सुधियामपि त्वम्।
स्प्रक्ष्यामि नार्थं विपदो निदानं,
प्रत्यूचिवानेव — मपूर्वबालः ॥

(४३)

लाडाँह्वयाऽयं सहितो भगिन्या,
प्राप्ताज्ञया संयमसाधनाय।
विवेश दीक्षाभवनं विशालं,
सार्धं जनानां जयकारशब्दैः ॥

(४४)

आवेष्टितः साधुसतीसमूहैः,
सुश्राविकाश्रावक — सर्वसंघैः।
कालूगणी तत्र विराजते स्म,
निदर्शयन् मोक्षपथं पवित्रम् ॥

(४१)

बड़े भाई श्री मोहनलालजी बोले—"तुलसी ! तुम घर छोड़कर जा रहे हो। ये सौ रुपये ले लो. धन ही विपत्ति के समय सहायक होता है।"

(४२)

अपूर्व बालक तुलसी ने उत्तर दिया—"भ्रातृवर ! आप तो बुद्धिमानों में श्रेष्ठ हैं, फिर आप कैसी असत्यपूर्ण बात कह रहे हैं ? धन तो विपत्ति का मूल है। इसे मैं छुऊँगा तक नहीं।"

(४३)

लाडांजी नामक अपनी बहिन, जिन्हें दीक्षा की आज्ञा प्राप्त हो चुकी थी, के साथ बालक तुलसी जय-जयकार करते लोगों के सहित दीक्षा-भवन में प्रविष्ट हुआ।

(४४)

पवित्र मोक्ष-मार्ग का निदर्शन देते हुए श्री कालुगणी वहाँ विराजित थे। साधु, साध्वियाँ, श्रावक, श्राविकाएँ चतुर्दिक् संस्थित थे।

(४५)

गृहस्थरूपं परिहृत्य सर्वं,
निधाय साधूचितशुद्धवेषम् ।
निपेततुः पादयुगे पवित्रे,
भ्रातृस्वसारौ गणपालकस्य ॥

(४६)

बद्ध्वाऽञ्जलिं सर्वकुटुम्बिलोकैः,
प्रयच्छ दीक्षां भगवंस्त्वमाभ्याम् ।
इत्थं मुहुः प्रार्थितपूज्यकालु-
र्दीक्षामिषाज्जन्म नवं ततोऽदात् ॥

(४७)

विहाय जीर्णानि वपूंषि जीवो,
शीघ्रं नवीनानि यथा दधाति ।
तथा गृहस्थाश्रममेष हित्वा,
साध्वाश्रमं नन्यतमं निनाय ॥

(४५)

गृहस्थ का सम्पूर्ण परिधान छोड़, श्रमण के लिए निर्देशित शुद्ध वेष ग्रहण कर भाई और वहिन—दोनों गणिवर के पवित्र चरणों में अभिनत हो गये।

(४६)

सब कुटुम्बी जनों ने हाथ जोड़कर निवेदन किया—"भगवन्! आप इन्हें दीक्षा प्रदान करें।" यों बार-बार प्रार्थना किये जाने पर आचार्यवर ने दीक्षा के मिष से उन्हें एक नया जन्म दिया।

(४७)

जिस प्रकार जीव जीर्ण शरीर छोड़ कर शीघ्र ही नये धारण करता है, उसी प्रकार श्री तुलसी ने गृहस्थाश्रम का परित्याग कर नवीन साधु-आश्रम को स्वीकार किया।

ओम्

अथ नवमः सर्गः

(१)

निर्मथ्य शब्दाब्धिमगाधमेक-
माविष्कृतं व्याकरणं नवीनम् ।
यथा पुराणेन मुनित्रयेण,
भाषां पुनर्यन्त्रयितुं क्रमेण ॥

(२)

कालूगणी मग्नमुनिश्च चम्पा-
लालाह्वयश्चेति मुनित्रयेण ।
तथा गणं भावयितुं नवत्वे,
आकर्षि लोकात्तुलसीरपारात् ॥

(३)

अन्तर्हितो यर्हि वटो विशालो,
बीजे लघीयस्यपि तुच्छरूपे ।
किमत्र चित्रं तुलसीति बाले,
गोपायितं तर्हि गणाधिपत्वम् ॥

(४)

रामस्य साकेतनिकेतनेऽच्छे,
भोजस्य धाराभवने प्रशस्ये ।
मेने जनो लाडनुसाधुसंघे,
नवं जनुः श्रीतुलसीश्वरस्य ॥

(१-२)

प्राक्तन कालीन तीन मुनियों (पाणिनि, कात्यायन, पतञ्जलि) ने भाषा के पुनर्नियन्त्रण के लिए नवीन व्याकरण का आविष्कार किया, उसी तरह आचार्य-वर श्री कालुगणी, मन्त्रिवर श्री मगन मुनि, भ्रातृवर श्री चम्पक मुनि—इन तीनों ने गण को नवत्व से अनुभावित करने के लिए इस अपार लोक से श्री तुलसी को ढूँढ निकाला।

(३)

नगण्य रूपवाले छोटे से बीज में यदि वट वृक्ष छिपा रहता है तो इसमें कैसा आश्चर्य, यदि बालक तुलसी में भी गणाधिपत्व छिपा था।

(४)

लाडनूं में श्री तुलसी का साधु-संघ में प्रविष्ट हो जाने के रूप में जो एक नया जन्म हुआ, वह लोगों को ऐसा लगा, मानो अयोध्या के देदीप्यमान भवन में राम का और धारा नगरी में भोज का जन्म हुआ हो।

(५)

न कल्पवृक्षोऽपि फलानि दत्ते,
विना सुधायाः शुभसिञ्चनेन।
विद्याम्बुभिः स्नापयितुं गणीति,
शिष्यं स्वकीयं तुलसीं प्रयेते॥

(६)

साधुक्रिया मुख्यतमाऽखिलेषु,
विद्यादिकेषू — त्तमभूषणेषु।
तस्यास्ततः संततसाधनाय,
तं सिद्धहस्तं गणपो वितेने॥

(७)

तज्ज्यायसः सादरसाधुचम्पा-
लालस्य सोऽरक्षि निरीक्षणेऽथ।
नियन्त्रितस्तेन मुनिक्रियासु,
भोज्येन पानेन च लालितोऽपि॥

(८)

मुक्ताः स्वयं चर्वयितुं कठोराः,
हंसस्य बालोऽपि सदा समर्थः।
क्लिष्टेऽतिकष्टेऽध्ययनेऽपि तस्माद्,
बाल्यं वयस्तस्य ददौ न बाधाम्॥

(५)

अमृत के शुभ सिञ्चन के विना कल्प-वृक्ष भी फल नहीं देता। अतः गणिवर अपने शिष्य तुलसी को विद्यारूपी जल से स्नान कराने का प्रयत्न करने लगे।

(६)

विद्या आदि सभी उत्तम गुणों में साधु-क्रिया सबसे मुख्य है। सर्व प्रथम उसे अनवरत रूप में साधते रहने के लिए आचार्यवर ने उन्हें (मुनि श्री तुलसी को) सिद्धहस्त—कुशल बना दिया।

(७)

उन्हें अपने बड़े भाई मुनि श्री चम्पालालजी की देखरेख में रखा गया। वे उन्हें साधु-क्रियाओं में नियोजित रखते, उनके खान-पान आदि का भी ध्यान रखते।

(८)

मुनि श्री तुलसी क्लिष्ट और कठिन अध्ययन में लग गये। उनकी बाल्य-अवस्था इसमें जरा भी बाधक नहीं बनी। जैसे हंस के बच्चे के लिए कड़े मोतियों को चबा जाने में उसका बालवय कभी बाधक नहीं होता।

(९)

पाठान् पठित्वा प्रथमान् गुरूणां,
मुखेन नित्यं स विशिष्टशिष्यः।
तांस्तान् स्वतः श्रावयति द्वितीयान्,
प्राग्जन्मसिद्धा — ननिरुद्धबुद्धिः ॥

(१०)

ब्राह्मे मुहूर्त्ते म च जागरित्वा,
सदा गुरूणां सविधे निषीदन्।
स्वाध्यायमध्याय — गतक्रमेण,
कण्ठस्थमावर्त्तयति स्म सम्यक् ॥

(११)

सिद्धान्तसूत्राणि जिनोदितानि,
समूलसार्थानि सुदुर्गमानि।
आचार्यपादाम्बुज — सन्निधिस्थः,
कण्ठीचकाराति — परिश्रमेण ॥

(१२)

साधून् लघून् पाठयति स्म स स्वान्,
समर्पितान् पूज्यवरेण तस्मै।
विवर्द्धते दाननिदानमेत्य,
प्राप्नोत्यदत्ता क्षयमेव विद्या ॥

(९)

वे विशिष्ट शिष्य, तीव्र मेधाशील मुनि श्री तुलसी गुरुवर्य के मुख से पहले पाठों को पढ़कर सदैव उन्हें अगले पाठ भी सुना देते। ऐसा लगता था, वे उन द्वारा पिछले जन्म में पढ़े हुए थे, जिसका यह संस्कार था।

(१०)

सदा ब्राह्म मुहूर्त्त में उठ, गुरुवर के समीप बैठ अध्यायानुक्रम से भलीभाँति वे कण्ठस्थ स्वाध्याय करते थे।

(११)

उन्होंने आचार्यवर के चरण-कमलों के सान्निध्य में रहते हुए जिनेश्वर द्वारा देशित सिद्धान्त-सूत्रों को, जो बड़े दुर्गम हैं, मूलरूप में तथा अर्थ सहित अत्यन्त परिश्रम के साथ कण्ठस्थ किया।

(१२)

पूज्यवर द्वारा सौंपे हुए छोटे साधुओं को वे पढ़ाते। यह यथार्थ है, विद्या दान के कारण बढ़ती है और न देने से क्षीण हो जाती है।

(१३)

अध्यापकोऽध्येतृवरश्च भूत्वा,
सकृद् विधाय द्विविधां क्रियां सः ।
स्याद्वादसिद्धिं कृतवान् क्रियासु,
डुकृञ्वदौ सत्यवतां हि तुल्यौ ॥

(१४)

गुर्वाज्ञया संसदि भाषमाणो,
व्याख्यातृकान् सोऽत्यशयिष्ट वृद्धान् ।
बालोऽपि सिंहो द्विपदीर्घदन्त-
विमर्दने स्यादधिकः पितृभ्यः ॥

(१५)

समादधाति स्म परप्रपृष्टान्,
प्रश्नान् महागूढतमानपीति ।
दानं दयां तेरहपंथयातां,
तर्कैरमोघैः कुरुते स्म सिद्धाम् ॥

(१६)

शब्दैः समस्तैः महितं विशाल-
मधीतवान् कोषमदोपमेषः ।
आमन्त्रणेनापि विना सहार्थैः,
शब्दा अनृत्यन् रसनाङ्गणेऽस्य ॥

(१३)

अध्यापक और विद्यार्थी होकर उन्होंने एक ही साथ दो क्रियाएँ साधित कर अपने कार्यों से भी स्याद्वाद की सिद्धि की। 'डुकृञ्-करणे' धातु (करना) और 'वद-व्यक्तायां वाचि' धातु (बोलना) सत्यनिष्ठ पुरुषों के दोनों समान रूप से एक ही साथ होते हैं। अर्थात् सत्यनिष्ठ पुरुष जैसा वचन से कहते हैं, कर्म में भी वे वैसे ही होते हैं। मुनि श्री तुलसी स्याद्वाद का वचन से विवेचन करते थे तो अपने जीवन-व्यवहार से भी उसकी अभिव्यक्ति देते थे कि अपेक्षा-भेद से एक व्यक्ति अध्यापक भी हो सकता है और छात्र भी।

(१४)

गुरुवर की आज्ञा से सभा में भाषण करते हुए वे वृद्ध व्याख्याताओं से भी बढ़ गये। सिंह का बच्चा भी हाथियों के दीर्घ दाँतों के विमर्दन में अपने बड़ों से बढ़ जाता है।

(१५)

दूसरों द्वारा पूछे गये अत्यन्त गूढ़ प्रश्नों का भी वे समाधान कर देते थे और वे दान तथा दया के सिद्धान्तों को तेरापंथ-दर्शन के अनुरूप अनिष्फल युक्तियों से सिद्ध कर देते थे।

(१६)

उन्होंने सब शब्दों से युक्त, बृहद्, शुद्ध कोष का अध्ययन किया। फलतः बिना बुलाये ही शब्द उनके जिह्वारूपी आंगन पर नाचने लगे।

(१७)

अहं तदानीं कृतवैद्यवृत्ति-
र्मरुस्थले स्थायितया न्यवात्सम् ।
तत्रैव मे साधुसमागमोऽभू-
दाकर्षितं येन मनो मदीयम् ॥

(१८)

मंघो मुनीनामिति दानपात्रं,
दानेन नश्यन्त्यथ कल्मषाणि ।
अहं स्वविद्यां न कथं ददीय,
दत्तां फलं या निहिता सुपात्रे ॥

(१९)

एवं विनिश्चित्य मरुस्थलेऽहं,
नियोगतः कालुगणीश्वरस्य ।
निःस्वार्थभावेन सुशीलमेत-
मध्यापिपं भाविगणीन्द्रवर्यम् ॥

(२०)

श्री भैक्षवं व्याकरणं नवीनं,
विनिर्मितं कालुकृपालुकाले ।
विना विलम्बेन कुशाग्रबुद्धिः,
सार्धं ततः सोऽक्षरशोऽप्यगीष्ट ॥

(१७)

उन दिनों में मरूभूमि—थली-प्रदेश में वैद्य-वृत्ति करता हुआ स्थायी रूप में रहता था (जैसा पहले उल्लेख हुआ है)। मेरा साधुओं से संपर्क हुआ। मेरा मन उस ओर आकृष्ट हो गया।

(१८)

मैंने सोचा—यह मुनियों का संघ दान का योग्य पात्र है। क्यों न मैं अपनी विद्या इन मुनियों को दूँ। सत्पात्र को दी हुई विद्या अपना फल देगी ही।

(१९)

थली में मन ही मन ऐसा निश्चित कर श्री कालुगणी के निर्देश से मैं निःस्वार्थ भाव से भावी आचार्य, सौम्य मुनि श्री तुलसी को अध्ययन कराने लगा।

(२०)

नवीन व्याकरण भिक्षु शब्दानुशासन, जो कृपावान् श्री कालुगणी के शासन-काल में निर्मित हुआ था, कुशाग्रबुद्धि मुनि श्री तुलसी ने आद्योपान्त अर्थसहित पढ़ लिया।

(२१)

ज्ञानं विना ना पशुना समान-
स्तज्जायते केवलसार्थशब्दैः ।
निर्मापकं व्याकरणं तदीयं,
तदेव तस्माज्जगति प्रधानम् ॥

(२२)

कोषेषु शब्दोऽपि कुतो भ्रियेत,
न रच्यते व्याकरणेन यर्हि ।
शब्दं विना किं कवयन्तु ते ते,
श्रीकालिदासप्रमुखाः कवीन्द्राः ॥

(२३)

मनोज्ञगन्धेन विना प्रसूनं,
प्राणैः प्रियैश्चापि विना शरीरम् ।
विद्वानपि व्याकरणेन शून्यो,
विज्ञायते दारुमयो द्विपेन्द्रः ॥

(२४)

अङ्गैरुपाङ्गैः सहितं समस्त-
मध्यैष्ट सुव्याकरणं विविक्तम् ।
सधातुपाठं गणपाठपद्यं,
कण्ठस्थमाशु व्यदधात् सुधीन्द्रः ॥

(२१)

ज्ञान के विना मनुष्य पशु के समान है। ज्ञान अर्थयुक्त शब्दों से होता है। उन शब्दों का निर्माण व्याकरण से होता है। इसलिए लोक में उसका अपना महत्त्व है।

(२२)

यदि व्याकरण शब्दों को न बनावे तो कोश (शब्द-कोश) कहाँ से भरेंगे। शब्दों के विना कालिदास आदि बड़े-बड़े कवि क्या कविता करते।

(२३)

मधुर सौरभ के विना पुष्प, प्रिय प्राणों के विना शरीर और व्याकरण से शून्य विद्वान् केवल काठ से बने हाथी जैसे हैं। उनसे क्या सधेगा।

(२४)

मेधावियों में श्रेष्ठ मुनि श्री तुलसी ने अंग, उपांग सहित, पद्य सहित गण-पाठ, धातु-पाठ आदि से युक्त समग्र व्याकरण अत्यन्त विशद रूप में कण्ठस्थ कर लिया।

(२५)

स शब्दगां धातुगतां च चक्रे,
कण्ठस्थसूत्रैः स्वयमेव सिद्धिम्।
अथाविपुद्‌रस — शुद्धयोऽस्माद्,
मृग्यो मृगेन्द्रादिव वीर्यवत्तः॥

(२६)

शङ्कासमाधान — मतिप्रगाढं,
मपारिभाषं सदृढप्रमाणम्।
विधाय लेभे विजयं विशेषं,
शब्दार्थवैयर्थ्य — समर्थकेषु॥

(२७)

निर्माय शब्दान् रुचिराननेका-
नुपार्जितार्थः कृपणो धनीव।
न क्षिप्तवान् केवलकोषकोणे,
प्रायुङ्क्त तान् सत्कवितापदेषु॥

(२८)

साहित्यबोधं रमणीयरूपं,
प्राणं कवीनां प्रतिभाऽन्वितानाम्।
शुद्धस्वरूपां कवितां विधातु-
मुपात्तवान् ग्रन्थवरैरनेकैः॥

(२५)

वे अपने कण्ठस्थ सूत्रों द्वारा शब्दों की और धातुओं की स्वयं सिद्धि करने लगे। उनसे अशुद्धियाँ इस प्रकार दूर भागने लगीं, जैसे बलवान् सिंह से हरिणियाँ भागती हैं।

(२६)

वे शब्दों के विपरीत अर्थ करनेवालों पर गम्भीर शंका-समाधान, परिभाषा, सुदृढ़ प्रमाण आदि द्वारा विशेष रूपेण विजय पाने लगे।

(२७)

अनेक सुन्दर शब्दों की रचना कर उन्होंने उन्हें धनी कृपण की तरह केवल कोष (शब्द-कोष, खजाना) के कोने में ही नहीं डाल दिया। वे उनका अपनी अच्छी-अच्छी कविताओं के पदों में प्रयोग करने लगे।

(२८)

शुद्धरूप में कविता करने के लिए उन्होंने अनेक ग्रन्थों के माध्यम से काव्य-शास्त्र का भी अच्छी तरह अध्ययन किया, जो (काव्य-शास्त्र) प्रतिभाशील कवियों का जीवन है।

(२९)

शतानि शास्त्राण्यपराण्यधीत्य,
न येन साहित्यरहस्यमाप्तम्।
माणिक्यमुक्तादिवताऽपि तेन,
चिन्तामणिर्न स्वकरे गृहीतः॥

(३०)

भर्त्ता भुवो भर्तृहरिर्बभाषे,
न येन साहित्यकलाऽध्यगायि।
शृङ्गेन पुच्छेन विना पशुः स,
जहाति घासं पुरुषान्नमश्नन्॥

(३१)

शब्दानपि व्याकरणेन शुद्धान्,
छन्दोविधानादपि पद्यलग्नान्।
शुष्काशनानीव सदात्यरुच्यान्,
साहित्यसर्पी रुचिरान् करोति॥

(३२)

छन्दोविधौ पूर्णविचक्षणस्य,
विदिद्युते तत्प्रतिभा स्वभावात्।
छन्दःशतानां रचनां विशुद्धा-
मभ्यासहेतोः स चकार नित्यम्॥

(२९)

जिसने सैकड़ों अन्य शास्त्रों का अध्ययन कर साहित्य का रहस्य नहीं पाया; माणिक्य, मुक्ता आदि तो उसके पास हैं पर चिन्तामणि रत्न उसके हस्तगत नहीं हुआ।

(३०)

राजा भर्तृहरि ने कहा था—जिसने साहित्य-कला अथवा साहित्य और कला का अध्ययन नहीं किया, वह बिना सींग-पूँछ का पशु है। वह मानव-भोज्य अन्न खाता है, घास नहीं। इतना ही उसका पशुओं से पार्थक्य है।

(३१)

शब्द चाहे व्याकरण से शुद्ध हों, छन्द शास्त्र की विधि के अनुरूप उन्हें पद्यों में रखा गया हो पर वे सूखे भोजन के समान अरुचिकर होते हैं जब तक साहित्य रूपी घृत का उनसे मेल नहीं होता। साहित्यरूपी घृत ही उन्हें रुचिकर बनाता है।

(३२)

वे (मुनि श्री तुलसी) छन्दशास्त्र में पूर्णतः विचक्षण हो गये। उनकी प्रतिभा सहज ही चमक उठी। वे प्रतिदिन अभ्यास के लिए सैकड़ों छन्दों की रचना करने लगे।

(३३)

बोधाय षण्णामपि दर्शनानां,
तेन प्रयासो विहितः प्रभूतः ।
तत्तर्कसंपर्कमुपेत्य मौन-
मुपाश्रयन् तार्किकपुंगवोऽपि ॥

(३४)

विद्यातपःसाधु — यथार्थकृत्य-
त्रयं त्रिवेणीव तदीयदेहे ।
उवाह नित्यं परमोज्ज्वलत्वात्,
प्रयागतीर्थेन समानरूपे ॥

(३५)

यथा- यथाऽयं वयसा प्रवृद्ध-
स्तथा तथा वृद्धिमियाय तेजः ।
विवस्वतः शाश्वतवृद्धिपूर्वं,
विलोक्यते तन्महसः प्रवृद्धिः ॥

(३६)

यशस्विकालूगणि — मन्मथारे-
र्गणेशतुल्यस्तुलसी — स्तनूजः ।
स्वभावतो विघ्नविनाशनस्य,
शिक्षामनर्घ्यात् पितृपूज्यपादात् ॥

(३३)

छहों दर्शनों के ज्ञान के लिए भी उन्होंने प्रचुर प्रयास किया। उनके तर्कों को सुनकर अच्छे-अच्छे तार्किक भी मौन हो जाते थे।

(३४)

उनकी परम उज्ज्वल देह में विद्या, तपस्या एवं साधु-चर्या की त्रिवेणी बहने लगी, जैसे तीर्थराज प्रयाग में त्रिवेणी—गंगा, यमुना व सरस्वती—ये तीनों बहती हैं।

(३५)

जैसे-जैसे उनका वय बढ़ने लगा, वैसे-वैसे उनका तेज भी बढ़ता गया। सूर्य की ज्यों-ज्यों वृद्धि होती जाती है, उसका तेज भी बढ़ता जाता है।

(३६)

यशस्वी कालुगणी शिव के तुल्य थे और मुनि तुलसी शिव-पुत्र गणेश के तुल्य। अतः उन्होंने स्वभाव से ही विघ्न-विनाशन की शिक्षा अपने पूज्यपाद पितृवर्य—गुरुवर्य से ग्रहण की अर्थात् विघ्नों—संकटों को मिटाने की कला के वे पूर्वाभ्यासी अथ च पूर्णाभ्यासी हैं।

(३७)

आरम्भतोऽभ्यासरता भवन्ति,
पुत्रा द्विपारेर्गजभञ्जनस्य।
शृगालबाला नशनं परेभ्यो,
जानन्ति पादाब्जयुगात् पितॄणाम्।

(३८)

अथैकदा कालुगणी महर्षि-
र्धर्मप्रचारं बहुशो वितन्वन्।
सम्मेदपाटस्थित — भीलवाड़ा-
पुरे प्रविष्टो विनतो महद्भिः॥

(३९)

स बाधितो दैववशादकस्मात्,
कराम्बुजस्थेन महाव्रणेन।
रोद्धुं क्षमः को भुवि राहुबाहुं,
नभोमणिं संप्रति पीडयन्तम्॥

(४०)

ततश्चतुर्मासविधिं विधातुं,
गङ्गापुरं प्रास्थित धैर्यधारी।
पीडातुरोऽपि व्रणवर्त्तितोऽपि,
विना चलं वर्त्म स गाहमानः॥

(३७)

सिंह के पुत्र आरम्भ से ही हाथियों को दलित करना सीख जाते हैं पर शृगाल के बच्चे अपने माता-पिता के चरण-कमलों से प्रेरणा पा दूसरों के आगे (भय से) भागना ही सीखते हैं।

(३८)

व्यापक रूप में धर्म-प्रसार करते हुए मुनीन्द्र श्री कालुगणी एक बार विशेष प्रार्थना पर मेवाड़-स्थित भीलवाड़ा नामक शहर में पधारे।

(३९)

दैववश अकस्मात् उनके हाथ में अत्यधिक पीड़ा देनेवाला एक गम्भीर व्रण हो गया। आकाश में सूर्य को पीड़ित करते राहु का हाथ कौन पकड़ सकता है। अर्थात् असात-वेदनीय के उदय से उत्पन्न होनेवाली पीड़ा को कौन रोक सकता है।

(४०)

वे व्रण से पीड़ित थे, शरीर में शक्ति नहीं थी, फिर भी धैर्य से मार्ग तै करते हुए चातुर्मासिक प्रवास के निमित्त गंगापुर पधारे।

मार्तण्डतापेन निदाहितोऽपि,
हिमोपलैः कर्षितघर्षितोऽपि ।
धूल्याः कणैरध्वनि धूसरोऽपि,
सदागतिर्न द्यति सद्गतिं स्वाम् ॥

सूरज के ताप से जलने पर, बर्फ की शिलाओं से गलने पर और धूल के कणों से धूसरित होने पर भी जैसे वायु अपनी गति नहीं छोड़ता; उसी प्रकार गणिवर ने असह्य वेदना के बावजूद अपनी गति नहीं छोड़ी।

ओम्

अथ दशमः सर्गः

(१)

आगत्य संसदि गुणानभिकांक्षमाणाः,
श्रद्धालवो बहुजनाः प्रणताः पदेषु ॥
गङ्गापुरेऽपि पपुरेकदयासुधायाः,
बिन्दूनजस्रपतितान् गणिवाक्यसिन्धोः ॥

(२)

हस्तव्रणार्त्ति — विकलोऽप्युपदेशशैलि,
न व्यस्मरद् गुणिगणी करुणार्णवः सः ।
संताडितोऽपि बहु वक्षसि राक्षसेन,
किं भ्रान्तिमान् भवति भानुरहर्विधाने ॥

(३)

अन्तर्ज्वलद्व्रणमरुत्सुहृदाऽपि दग्धः,
आः शब्दमप्यकृत नैष कदापि धीरः ।
वज्राहतोऽपि न चचाल हिमालयोऽद्रिः,
का राममार्गणविमार्गितसिन्धुकीर्तिः ॥

(४)

पाश्चात्यशल्यभिषजामपि सर्वयत्नः,
यातः पुनर्विफलतां विहितोऽपि भूरिः ।
शल्यक्रियां मुनिजनादितरो न कर्त्तुं,
शक्तः कठोरनियमैर्भुवि भैक्षवानाम् ॥

(१)

गंगापुर में अनेक श्रद्धालु जन गणिवर की परिषद् में आ गुणों की आकांक्षा से उनके चरणों में नत होते तथा उनके वचन रूपी समुद्र से निरन्तर टपकते दया रूपी अमृत की बून्दों को पीते।

(२)

करुणा के समुद्र, गुणवान् गणिवर हाथ के व्रण से पीड़ित होते हुए भी अपनी उपदेश-शैली नहीं भूले। राहु द्वारा छाती में ताडित होता हुआ भी सूर्य क्या दिवस का निर्माण करना भूल जाता है?

(३)

व्रण के भीतर आग सी जलती थी, जिससे पूज्यवर को असह्य वेदना थी पर वे तो महान् धैर्यशाली थे, मुँह से आह तक नहीं निकाला। हिमालय वज्र के प्रहार पड़ने पर भी विचलित नहीं हुआ और समुद्र, ज्योंही राम ने (उसके द्वारा मार्ग न देने पर धनुष पर) बाण चढ़ाया, विचलित हो उठा। हिमालय का आज भी अपना गौरव है, विचलित होनेवाले सिन्धु का क्या यश है। पूज्यवर हिमालय की तरह दृढ़ और स्थिर थे।

(४)

व्रण के सम्बन्ध में एलोपैथिक सर्जनों के भी सब प्रयत्न निष्फल रहे। क्योंकि भिक्षु-शासन के कठोर नियमों के अनुसार मुनि का ऑपरेशन संघ के मुनि के अतिरिक्त और कोई नहीं कर सकता।

(५)

आयुर्विदां विमलभेषजमाप्तुकामः,
सोऽङ्गीचकार मम भेषजमर्चितांघ्रिः ।
प्रागेव किन्तु कथिताऽथ मयाऽमयस्य.
दुःसाध्यता चरकशास्त्रमतप्रमाणा ॥

(६)

एकान्तवादविमुखः प्रमुखो मुनीना-
एकान्तवाससमचिनोत् सुविचारहेतोः ।
गुप्तं रहस्यमिति कर्णपरंपरायाः,
स्यान्नातिथिर्मनसि पूर्णतया विचार्य ॥

(७)

आहूय मन्त्रिवरमग्रमुनिं समीपे,
सन्मन्त्रणां विहितवान् निजगाद चैवम् ।
मन्त्रिन् ! मदीयमनसि स्थितसर्ववृत्तं,
जानासि यद्यपि तदाऽपि तदत्र भाषे ॥

(८)

साध्यो न मामकगदः समयोऽन्तिमोऽपि,
संलोक्यते निकट एवमसंशयेन ।
संघप्रबन्धमधुनाऽग्रगतं विधास्ये,
कार्यस्तदर्थमिह कोऽपि वरो विचारः ॥

(५)

गणिवर शुद्ध आयुर्वेदिक औषधि लेना चाहते थे। अतः उन्होंने ये औषधि लेना स्वीकार किया। पर मैंने चरक संहिता के मतानुसार पहले ही उस व्रण को असाध्य बतला दिया था।

(६)

मुनियों के अधिनायक आचार्यवर, जो एकान्तवाद से विमुख थे, ने चिन्तन के लिए एकान्तवास को चुना, जिससे (आगे कहा जानेवाला) गुप्त रहस्य काना-फूसी का विषय न बन जाय।

(७)

मन्त्रिवर श्री मगन मुनि को पास बुलाकर उनसे वे मन्त्रणा करने लगे, बोले—"मन्त्रिवर! आप मेरे मन की सब बात जानते हैं फिर भी मैं उसे कहता हूँ—

(८)

मेरा रोग साध्य नहीं है! निःसन्देह मेरा यह अन्तिम समय है। अतः मैं संघ का आगे का प्रबन्ध करना चाहता हूँ। इस सम्बन्ध में अपने को अच्छी तरह सोचना है।

(९)

त्वं साधुसागरमिमं मतिमन् ! प्रमथ्य,
निष्कासयस्व सहसा युवराजरत्नम् ।
यस्याश्रये प्रतिदिनं भुवि भैक्षवोऽयं,
कीर्त्या युतो भवतु तेरहपन्थसंघः ॥

(१०)

बद्ध्वाऽञ्जलिं जलजतुल्यगणीन्द्रपादान्,
मूर्ध्ना स्पृशन् निजकथां कथयांबभूव ।
मन्त्री मुनिः प्रकृतिजातविशुद्धबुद्धिः,
सार्थं विधाय निजमन्त्रिपदं प्रशस्तम् ॥

(११)

स्वामिंस्त्वमेव विदितोऽसि गुरुर्गुरूणां,
किन्ते निवेदयतु मादृशतुच्छसाधुः ।
कूपो न याचति पिपासितमम्बु शीतं,
वैद्याय नो ददति भेषजमामयार्त्ताः ॥

(१२)

सेवावशात् प्रकथयामि तथापि नाथ !,
किंसेवकः स कुरुते समये न सेवाम् ।
वोढुं क्षमः सकलसंघविशेषभारं,
को भाति कस्य हृदये तुलसी विनाऽन्यः ॥

(९)

मेधाविन् ! साधुरूपी समुद्र का मन्थन कर आप युवाचार्यरूपी एक ऐसा रत्न निकालें, जिसके नायकत्व में आचार्य भिक्षु के इस तेरापंथ शासन का यश दिन पर दिन बढ़ता जाए।"

(१०)

हाथ जोड़, गणिवर के चरण-कमलों का अपने मस्तक से स्पर्श कर मन्त्री मुनि, जो विशुद्ध बुद्धि के धनी थे, अपना प्रशस्त मन्त्रि-पद सार्थक करते हुए बोले —

(११)

"प्रभो ! आप गुरुओं के भी गुरु हैं, यह सुविदित है। मेरे जैसा सामान्य साधु आपको क्या निवेदन करे। कुआ प्यासे मनुष्य से कभी शीतल जल नहीं मांगता। रोग से आर्त्तजन वैद्य को औषधि नहीं देते।

(१२)

फिर भी सेवा की वृत्ति से मैं कुछ निवेदन कर रहा हूँ। क्योंकि वह कैसा सेवक, जो समय पर सेवा न करे। अस्तु - मुनि तुलसी के अतिरिक्त समस्त संघ के विशिष्ट उत्तरदायित्व को वहन करने में सक्षम और कौन किसको लगता है।"

(१३)

रोगी यदेव हृदि कामयते स्म पथ्यं,
तथ्यं तदेव भिषजाऽपि विचार्य दत्तम् ।
एवं ब्रुवन् विकसिताननतामुपेत्य,
तत्प्रार्थनां समुचितां सुदृढीचकार ॥

(१४)

पूज्येन कालुगणिना मुनिमन्त्रिणा च,
संघप्रबन्धविषये सपदि प्रपन्ने ।
किं कार्यमस्ति किमकार्यमिति प्रकारात्,
सम्यङ्न्यबोधि तुलसी: कुलसीमपाता ॥

(१५)

केशैर्नितान्तपलितै — र्दशनैर्विदीर्णै:,
प्राय: कपोलवलिभि: कटिभिर्नताभि: ।
यष्ट्याश्रितेन चलितेन सकम्पितेन,
वृद्धो न सिद्धिमुपयाति विना गुणेन ॥

(१६)

विद्याम्बुधिर्मधुरभाषण — दानपक्ष:,
शास्त्रार्थखण्डितसमस्त — विपक्षिपक्ष: ।
साधुक्रियास्वशिथिल: समदर्शिरूप:,
सोऽयं युवाऽपि युवराजपदं प्रपेदे ॥

(१३)

"रोगी ने जो पथ्य चाहा, वैद्य ने विचार कर यथार्थतः वही दिया"–यों कहते हुए प्रसन्न होकर गणिवर ने मन्त्री मुनि के समुचित विचार को सुदृढ़ किया।

(१४)

संघरूपी कुल की सीमा के रक्षक श्री तुलसी को शीघ्र ही संघ का उत्तर-दायित्व अपने ऊपर आने पर क्या करना है और क्या नहीं करना है, यह पूज्य कालुगणी ने तथा मन्त्री मुनि ने उन्हें भली भाँति समझाया।

(१५)

वृद्ध बिना गुण के केवल बाल सर्वथा सफेद हो जाने से, दाँत गिर पड़ने से, गालों पर झुर्रियाँ पड़ जाने से, कमर झुक जाने से, लड़खड़ाते हुए, लट्ठी के सहारे चलने से कोई सिद्धि नहीं पाता। अर्थात् केवल आयु से वृद्ध होने से कुछ बनता नहीं, यदि व्यक्ति गुणों से वृद्ध नहीं है।

(१६)

श्री तुलसी विद्या के समुद्र थे, मनोज्ञ प्रवचन करने में वे निपुण थे, शास्त्रार्थ में समस्त विरोधियों के पक्ष के खण्डयिता थे, साधु-आचार में सुदृढ़ थे, सबको समान दृष्टि से देखते थे। अतएव वे छोटी आयु के होते हुए भी युवाचार्य के पद पर मनोनीत किये गये।

(१७)

कालूगणी गुणिगणस्तुतपादपद्मो,
यं देवसेवितपदं तुलसीमहर्षिम् ।
पाण्युत्पलेन युवराजपदेऽभ्यसिञ्च-
त्तद्दर्शनार्थमतुला जनता समागात् ॥

(१८)

वृद्धेषु साधुषु महत्स्वपि सत्सु संघे,
प्राग्ज्ञातरीतिषु लषत्तुलसीतरेषु ।
अस्मिन् पदे नववयाः स्थितवान् कथं भो,
इत्थं तु कैश्चिदुदिते निजगाद कश्चित् ॥

(१९)

सिन्धुर्महानपि नृणां हरते न तृष्णां,
स्यात्तुच्छकूपकृपया शमनं तृषायाः ।
मृत्युं निहन्ति मकरध्वजरक्तिकैका,
कर्पद्वयं जयति तं न सितोपलादेः ॥

(२०)

चन्द्रो महानपि जनैः कथितः कलङ्की,
तुच्छे मणौ भवति कोऽपि न दुष्टदोषः ।
रोहीतकस्य कुसुमं बृहतोऽप्यगन्धं,
पुष्पं सदा सुरभितं लघुमालतीजम् ॥

(१७)

गुणी जन जिनके चरण-कमलों की स्तवना करते थे, उन कालुगणी ने जब देवसेव्य महा मुनि तुलसी को अपने कर-कमल से युवचार्य पद पर अभिषिक्त किया, उस समायोजन को देखने अपरिमित जन-समुदाय उमड़ पड़ा।

(१८)

कई एक ने शंका की—संघ में बड़े-बड़े, अच्छे-अच्छे साधु विद्यमान हैं, वे पहले से ही संघ की रीति नीति आदि जानते हैं। तब फिर युवाचार्य पद पर नव वय के मुनि श्री तुलसी मनोनीत किये गये, ऐसा क्यों ?

(१६)

इसके उत्तर में किसी ने कहा—यद्यपि समुद्र बहुत बड़ा होता है पर वह लोगों की प्यास नहीं बुझाता। कुआ बहुत छोटा होता है पर उसकी कृपा से प्यास शान्त हो जाती है। मकरध्वज की एक रत्ती भर की मात्रा मृत्यु को हर लेती है और सितोपलादि चूर्ण के दो तोले भी नहीं।

(२०)

चन्द्रमा बड़ा है पर सकलंक कहा गया है। मणि छोटी सी होती है पर उसमें कोई दूषण नहीं होता। रोहिड़े का वृक्ष बड़ा होता है पर उसका पुष्प निर्गन्ध होता है। मालती का पौधा छोटा सा होता है पर उसके पुष्प में सदा सुगन्ध रहती है।

(२१)

संस्तूयमानचरितं परदारचोर-
लङ्कापतेर्वधविधायक — रामचन्द्रम् ।
श्रीवर्द्धमानमपि तीर्थकरं महान्तं,
यः प्रागमुञ्चदुदरंभरिरन्तको न ॥

(२२)

अन्तर्हितोऽतिसमयाद् विजने कुहापि,
द्वारं व्रणेन विहितं गणिनः शरीरे ।
प्राप्यातिनिर्भयतया प्रविवेश शीघ्रं,
सोऽनिष्टमेव कृतवान् जगतोऽखिलस्य ॥

(२३)

कीनाश ! नाशमुपयाहि विना विलम्ब-
मेवं ब्रुवत्सु रुदितेष्वपि पूरुषेषु ।
भूमिं विना विहितवान् गणिकालुना स,
स्वर्गस्थलीं विकसितां सहितां च तेने ॥

(२४)

वज्रप्रपातमिव पर्वतपूर्णपङ्क्ति-
स्तीव्रं तुषारमिव वृक्षसदक्षजातिः ।
दावाशुशुक्षणिमिवाखिलवन्य — भूमिः,
सेहे न काऽपि जनता गणिनो वियोगम् ॥

(२१-२२)

जिस पेटू काल ने परदार चोर लंकापति रावण का वध करनेवाले सच्चरित्र रामचन्द्र, धर्मतीर्थ की स्थापना करनेवाले महावीर, को भी नहीं छोड़ा, जो बहुत समय से एकान्त में कहीं छिपा था, उसने गणिवर के शरीर में व्रण के द्वारा बने द्वार से निर्भय हो प्रवेश किया और समस्त जगत् का अनिष्ट कर डाला।

(२३)

"काल! तेरा शीघ्र नाश हो जाए," लोग यों बोल रहे थे, रो रहे थे कि उसने पृथ्वी को कालुगणी से शून्य कर दिया और स्वर्ग को (कालुगणी को वहाँ ले जाकर) उल्लसित बना दिया।

(२४)

पर्वत-श्रेणी जैसे वज्रपात को नहीं सह सकती, वृक्ष जैसे वर्फ को नहीं सह पाते, वन-भूमि जैसे दावाग्नि को नहीं सह सकती, उसी प्रकार जनता कालुगणी के वियोग को नहीं सह सकी।

(२५)

केचिद् रुदन्ति पुरुषा विलपन्ति केचित्,
केचित् कपोलधृतवामकरा न्यषीदन् ।
केचिद् वदन्ति कथमद्य गणस्य नाथः,
पृष्टोऽपि नोत्तरमयं ददते शयानः ॥

(२६)

कस्तारयिष्यति भवाम्बुधितो मनुष्यान्,
को वा हरिष्यति जगद्गतपापपुञ्जम् ।
प्रश्नान् समादधतु के तरसा निगूढा-
नश्रून् विमुञ्चति परः कथयन्नथेत्थम् ॥

(२७)

स्वं स्वामिनं मुनिजनो दिवि यातमैक्ष्य,
ध्यानस्थितः परिनिमीलितनेत्रयुग्मः ।
वक्तुं क्षमो न हतमूक इव स्वपीडां,
ज्ञानाग्निना बहु दहन् नयनाम्बुधाराम् ॥

(२८)

चिन्तामणौ निपतिते तलतः करस्य,
संपूरयिष्यति मनोगतकामनां कः ।
एवं परस्परसमर्थितकल्पनाभिः,
केचिद् रुदन्ति परकानपि रोदयन्ति ॥

(२५)

कई मनुष्य रो रहे थे, कई विलाप कर रहे थे, कई गालों पर अपने बायें हाथ रखे बैठे थे। कई कह रहे थे, "गण के स्वामी आज ऐसे कैसे सोगये कि पूछने पर भी कुछ उत्तर नहीं देते।"

(२६)

"संसार रूपी सागर से मनुष्यों का उद्धार कौन करेगा, जगद्व्यापी पाप-पुञ्ज कौन मिटायेगा, निगूढ़ प्रश्नों का अविलम्ब समाधान कौन देगा"—आँसू ढलकाते हुए कोई एक व्यक्ति यों कहने लगा।

(२७

मुनिगण ने अपने स्वामी को स्वर्गगत देखा तो आँखें मूँद वे ध्यानावस्थित हो गये। अपने नेत्रों के जल को ज्ञानरूपी अग्नि से जलाते हुए, वे मूक की तरह अपनी पीड़ा कह नहीं सके। अर्थात् एक ओर उनके नेत्र आँसू गिराना चाहते थे, दूसरी ओर उनका शुद्ध ज्ञानात्मक चिन्तन आँसुओं को रोकना चाहता था।

(२८)

"चिन्तामणि हाथ से गिर गया। अब कौन किसकी मनःकामना पूर्ण करेगा"—इस प्रकार एक दूसरे की कल्पनाओं का समर्थन करते हुए कई रो रहे थे, दूसरों को भी रुला रहे थे।

(२६)

गङ्गापुरं गहनशोकसमुद्रमग्नं,
कस्यापि कुत्रचन काऽप्यभवन्न पृच्छा ।
माता स्वपुत्रमनुजं निजमेव बन्धुः,
पत्नी च विस्मृतवती स्वपतिन्तदानीम् ॥

(३०)

सीमन्तिनी प्रथममेव तथाऽञ्जयित्वा,
नाक्षि द्वितीयमलमञ्जयितुं बभूव ।
क्षौरार्द्धकर्मणि करादपि नापितस्य,
क्षित्या क्षुरं निपतितं निशितं त्वरैव ॥

(३१)

ग्रासार्पणाय मुखमध्यमधिप्रविष्टा,
हस्ताङ्गुली बहिरुपैतुमभूदनर्हा ।
ग्रासोऽप्यधो न पतितो गलतो बुभुक्षोः,
कोलाहले सति दिवो गमनस्य कालोः ॥

(३२)

वैद्यो गृहीतधमनिर्गदपीडितस्य,
रोगं परीक्षितुमभूच्चकितो न शक्तः ।
निर्मीयमाण — कविताऽन्तिमपद्यपूर्तिं,
चक्रे न भिन्नहृदयः कविपुंगवोऽपि ॥

(२६)

समस्त गंगापुर शोक के अगाध समुद्र में डूब गया। कहीं कोई किसी के विषय में नहीं पूछता था। उस समय मानो माता अपने पुत्र को, भाई अपने भाई को और पत्नी अपने पति को भूल गई।

(३०)

किसी एक कुल-वधू ने अपने प्रथम नेत्र में तो अंजन आंजलिया था, पर ज्योंही उसे उक्त घटना ज्ञात हुई, वह दूसरे नेत्र में अंजन नहीं आँज सकी। नाई आधी हजामत ही बना पाया था कि उसका पैना उस्तरा तत्क्षण पृथ्वी पर गिर पड़ा।

(३१)

ज्यों ही कालुगणी के स्वर्गवास की बात फैली, लोगों की ऐसी दशा हो गई कि भोजन का ग्रास देने के लिए मुँह में प्रविष्ट हुई हाथ की अंगुलियाँ बाहर नहीं निकल सकीं और न ग्रास ही गले से नीचे उतरा।

(३२)

वैद्य ने निदान के लिए रोगी की नाड़ी पकड़ी ही थी कि वह उक्त घटना सुन स्तंभित हो उठा, रोग का निदान तो उस घड़ी वह कर ही क्या सकता था। प्रतिभाशील कवि का हृदय उस दुःखद घटना पर मानो फट गया। अपने द्वारा रची जा रही कविता का जो अन्तिम पद अवशेष रह गया था, वह उससे पूरा नहीं हो सका।

(३३)

जज्वाल भोजनकृते ज्वलनो न गेहे,
घासं जघास न गवां समजः क्षुधार्त्तः।
शाखिस्थिताः शकुनयो रुरुवुर्विशेषात्,
स्वर्गाङ्गणं प्रविशति प्रकटं मुनीशे॥

(३४)

अन्त्यावधिस्थित — मुनीश्वरमुक्तपूर्वं,
निर्जीवकालुगणिनो रमणीयदेहम्।
अन्त्येष्टिकर्मकरणाय ततो गृहीतं,
सभ्यैर्गृहस्थ — पुरुषैर्बहुभिर्मिलित्वा॥

(३५)

दूरादपि श्रमणपालकदर्शनार्थं,
नाना जनाः सपरिवारवराः समायन्।
अन्त्योत्सवे न जनता मिततामयासीद्,
गङ्गापुरेऽभवद — पारपयोधिरूपम्॥

(३६)

निस्तोयनिष्प्रभसरोवर — सन्निभस्य,
निर्जीवकालुगणिनः शवदर्शनाय।
संख्याऽतिरिक्तजनता हतसर्वमार्गा,
कूलङ्कषेव चलिता तटमुद्वहन्ती॥

(३३)

मुनीश्वर स्वर्गवासी हो गये, यह जान (लोगों के) घर में शोकवश भोजन के लिए चूल्हा तक नहीं जला। गायें भूखी थीं पर उन्होंने घास नहीं चरा। वृक्षों पर बैठे पक्षी सब विशेष शब्द करने लगे—दुःख के स्वर में बोलने लगे।

(३४)

अन्त्य अवधि तक स्थित मुनि गण ने जब श्री कालुगणी के निष्प्राण पर सुन्दर देह को वोसरा दिया—छोड़ दिया, तब बहुत से नागरिकों ने मिल अन्त्येष्टि-कर्म करने के लिए उसे ले लिया।

(३५)

गणिवर के दर्शनों के लिए अनेक लोग सपरिवार आये हुए थे। अन्तिम-संस्कार-समारोह में सम्मिलित जनता अपरिमित संख्या में थी। गंगापुर में उसने एक अपार समुद्र का सा रूप ले लिया।

(३६)

श्री कालुगणी के, जल शून्य सरोवर के समान निष्प्राण शरीर को देखने के लिए असंख्य जनता उस नदी की तरह, जो तट से उतराकर बहने लगी हो, मार्ग-मार्ग में उमड़ पड़ी।

(३७)

ऐरावतोपमविशाल — गजेन्द्रमेक-
मारुह्य केऽपि पुरुषा रजतान्यवर्षन् ।
उप्ताः कृपाविव पथि स्थितरौप्यमुद्राः,
कालोर्यशः सिततया द्विगुणं वितेनुः ॥

(३८)

सर्वे श्मशानभुवि सम्मिलिता मनुष्याः,
एकस्वरेण जगदुर्जयकारशब्दान् ।
भस्मीचकार शुचिचन्दनदारुदीप्तः,
कर्माणि कालुरिव तच्छवमाशु वह्निः ॥

(३९)

दग्धं तदीयमिति भौतिकमात्रदेहं,
संप्राप्य जीवति स संप्रति कीर्तिकायम् ।
आश्वासनं निजहृदीति परं निधाय,
निम्नानना अथ जनाः स्वगृहाण्यगच्छन् ॥

(३७)

ऐरावत के समान एक विशाल हाथी पर चढ़े हुए कई व्यक्ति रुपयों की उछाल कर रहे थे। जैसे खेती में बोये गये हों, इस तरह मार्ग में पड़े वे चाँदी के रुपये अपनी उज्ज्वलता के कारण श्री कालुगणी के यश को मानो दुगुना कर रहे थे।

(३८)

श्मशान-भूमि में सम्मिलित मनुष्य एक स्वर से जय के नारे लगा रहे थे। पवित्र चन्दन और काठ से जलती हुई अग्नि ने उस शव को उसी प्रकार भस्म कर डाला, जिस प्रकार श्री कालुगणी ने कर्मों को भस्म कर डाला था।

(३९)

"केवल उनका (श्री कालुगणी का) भौतिक देह जला है, यशरूपी शरीर प्राप्त कर अब भी वे जीवित हैं"—यों अपने मन में आश्वासन धारण कर लोग अपने मुँह नीचे किये अपने-अपने घर आये।

ओम्

अथ एकादश: सर्ग:

(१)

दिवि प्रयातस्य गणीन्द्रकालो:,
प्राप्तं समाचारमिमं नवीनम् ।
व्याप्तं समस्तेषु पुरेषु लोका:,
लुलोकिरे तैलमिवाम्बुराशौ ॥

(२)

नाना नगर्यो — गणिकालुशोके,
शीघ्रं प्रजाता अवरुद्धकार्या: ।
यतस्ततः शोकसभा अभूवन्,
आवर्त्तयन्त्य: सुयशस्तदीयम् ॥

(३)

कालुगुरो: स्वर्गमनं निशम्य,
दूरस्थितानामपि सन्मुनीनाम् ।
आघातपातो हृदये प्रजातो,
नष्टे स्वरत्ने नहि कस्य शोकः ॥

(४)

बीजे विलुप्ते कृषिभूमिमध्ये,
तदङ्कुरः संमुखमेति शीघ्रम् ।
दिवं गते कालुगुरौ तदीयं,
रूपं द्वितीयं तुलसीश्चकाशे ॥

(१)

लोगों ने देखा—श्री कालुगणी के स्वर्गारोहण का नवीन समाचार सभी नगरों में इस प्रकार फैल गया है, जिस प्रकार पानी में तेल फैल जाता है।

(२)

श्री कालुगणी के शोक में अनेक नगरों में काम-काज बन्द रहा। भिन्न-भिन्न स्थानों पर शोक-सभाएं हुईं, जहाँ लोगों ने उनके यशस्वी जीवन को स्मरण किया।

(३)

दूरवर्ती मुनियों ने जब गुरुवर श्री कालुगणी के स्वर्गवास का समाचार सुना, उनके हृदय में बड़ा आघात पहुँचा। अपने रत्न के खो जाने पर भला किसे दुःख नहीं होता।

(४)

खेत में जब बीज विलुप्त हो जाता है तो उस बीज का अङ्कुर सामने आता है। इसी प्रकार श्री कालुगणी के स्वर्गवासी होने पर श्री तुलसीगणी मानों उन्हीं के दूसरे रूप हों, उद्योतित हुए।

(५)

मग्नो मुनिर्भैक्षवपुण्यसत्त्वी,
सर्वैः प्रहृष्टैर्मुनिभिः समेतः ।
राज्याभिषेकस्य महोत्सवाय,
बद्धाञ्जलिं श्री तुलसीं बभाषे ॥

(६)

आचार्यवर्योऽसि गणाधिपोऽसि,
देवैर्नरै — रभिपूजितोऽसि ।
त्वमेव कालूगणिनाऽ — स्मदर्थं,
नाथो नियुक्तो बहुशक्तिशाली ॥

(७)

षष्ठे प्रकृष्टे नवमे निषण्णो,
पट्टस्य सर्वं मुनिमण्डलेशम् ।
यतो व्रतं पूर्णतया प्रपाल्य,
त्वरेति मोक्षान्त्यपथं लभेत ॥

(८)

जिनाज्ञया तुल्यतमां तवाज्ञां,
सर्वे वयं संप्रति पालयामः ।
श्रीवर्द्धमानेन सुरार्चितेन,
मन्यामहे त्वां प्रभुणा समानम् ।

(५)

तेरापंथ संघ के मन्त्री श्री मगन मुनि प्रहृष्ट मुनियों सहित हाथ जोड़ युवाचार्य श्री तुलसी से आचार्य-पदारोहण समारोह के सम्बन्ध में निवेदन करने लगे :—

(६)

"आप हमारे आचार्य हैं, गणीश्वर हैं, सर्व देवों द्वारा वन्दित हैं। श्री कालुगणी द्वारा महान् शक्तिशाली आप ही हमारे स्वामी मनोनीत किये गये हैं।

(७)

आप नवम पट्ट पर विराजित होकर समस्त श्रमण संघ का संरक्षण करें, जिससे वे पूर्णरूपेण व्रतों का परिपालन करते हुए मोक्ष-पथ पर गतिशील रहें।

(८)

आपकी आज्ञा को हम भगवदाज्ञा की तरह पालेंगे और आपको देवपूजित भगवान् महावीर के समान समझेंगे।

(९)

तेजस्विनां पूर्णयशस्विनां वा,
तपोधनानां विमलात्मनां वा।
शास्त्राम्बुधीनां गुणगर्भितानां,
त्वमेव विज्ञैर्विदितः प्रधानः॥

(१०)

त्वं लोकबन्धोः सदृशो विभासि,
लोकान्धकारस्य विनाशनाय।
पापार्थसैन्यानि विदग्धुमर्हः,
प्राज्ञैः प्रतीतोऽस्यकृशः कृशानुः॥

(११)

चिन्ताग्निना प्रज्वलिताङ्गभाजां,
शान्तं सुशीतं हृदयं करोषि।
दोषैरशेषै रहितं वदन्ति,
विद्वांसस्त्वामकलं शशाङ्कम्॥

(१२)

रत्नोपमानि प्रवर — व्रतानि,
दीनाय दारिद्र्य — विदारणाय।
दत्से बुधास्त्वां मधुरं वदन्त-
मक्षारतोयं जलधिं विदन्ति॥

(९)

सभी विज्ञ जन आपको तेजस्वी, यशस्वी, तपस्वी, निर्मलचेताओं, शास्त्र के पारगामी, गुणीजनों में प्रधान मानते हैं।

(१०)

आप लोक के अज्ञानान्धकार को मिटाने के लिए लोक-बन्धु सूर्य के समान हैं। पापरूपी निकृष्ट इंधन को जलाने के लिए आप प्रचण्ड अग्नि के तुल्य हैं।

(११)

चिन्तारूपी अग्नि से जिनका अंग-अंग जल रहा है, आप उन्हें शान्तिरूपी शीतलता प्रदान करनेवाले हैं। समस्त दोषों से रहित आपको विद्वज्जन निष्कलङ्क चन्द्रमा कहते हैं।

(१२)

असंयम रूपी दरिद्रता मिटाने के लिये आप आर्त्तजनों को रत्न के तुल्य उत्तम व्रत प्रदान करते हैं। यही कारण है, बुधजन आपको, जिनकी वाणी में सहज मधुरिमा है, मधुर जलवाला समुद्र कहते हैं।

(१३)

अहिंसया निर्हृत — लोकदुःखं,
त्वां ब्रह्मचर्यव्रत — भूषिताङ्गम् ।
अपुत्रभार्य्यं विनिवृत्तगेहं,
मन्यामहे गान्धिमगाधबुद्धिम् ।।

(१४)

अशेषशब्दाम्बुधि — पारयातं,
सारस्वताः संप्रति सन्दिहन्ति ।
त्वां पाणिनिं वा तुलसीमुनिं वा,
दाक्षीसुतं वा वदनासुतं वा ।।

(१५)

साधूंस्त्वदीयान् समभोज्यवस्त्रा-
नेकक्रियानेकगुरौ निबद्धान् ।
वीक्ष्य प्रवीणा इह निर्णयन्ति,
न साम्यवादं न समाजवादम् ।।

(१६)

गीतामपि त्वां परितः पठन्तं,
जैनागमान् पूर्णतया रटन्तम् ।
शौद्धोदनेर्ग्रन्थवरान् भणन्तं,
स्वं स्वं विदुर्वैदिकजैनबौद्धाः ।

(१३)

हमें लगता है, आप दूसरे गाँधी हैं। महात्मा गाँधी ने अहिंसा द्वारा स्वातन्त्र-संग्राम लड़, लोगों का दुःख मिटाया। आप अहिंसा की सर्वाङ्गीण साधना में निरत हैं लोगों को अहिंसोन्मुख बनाने में यत्नशील हैं, अहिंसा के माध्यम से उनके सब दुःखों का ध्वंस करते हैं। वे गाँधी गार्हस्थ्य-आश्रम में थे, आप ब्रह्मचारी हैं; वे भार्यावान्, पुत्रवान्—गृही थे, आप भार्या, पुत्र आदि से रहित हैं क्योंकि आप गृह-त्यागी संन्यासी जो हैं। आप भी निःसीम बुद्धि के धनी हैं, जैसे वे थे।

(१४)

आप समग्र शब्द-शास्त्र के पारगामी हैं। अतएव विद्वानों को सन्देह होने लगा है कि वे आपको दाक्षी-पुत्र पाणिनि कहें या वदना पुत्र तुलसी।

(१५)

आपके साधु गण का समान भोजन है, समान वस्त्र है, सबकी क्रिया में साम्य है, सब गुरु आज्ञा में निबद्ध हैं। यह देख बुद्धिमान लोग यह निर्णय नहीं कर पाते हैं कि आपके संघ में समाजवाद है या साम्यवाद।

(१६)

आप गीता का परिपठन करते हैं, जैन आगमों का सम्पूर्णतः पारायण करते हैं, बौद्ध दर्शन के उत्तमोत्तम ग्रन्थों का भी विवेचन करते हैं। यही कारण है-वैदिक, जैन और बौद्ध सभी आपको अपना मानते हैं।

(१७)

द्वेषो न ते पापिजनेषु कोऽपि,
रागो न ते धार्म्मिकमानवेषु।
द्वेषस्तु पापाय महाधमाय,
धर्म्माय रागोऽभवदुत्तमाय ॥

(१८)

वदन्ति केऽज्ञा युवकं नवं त्वां,
त्वं भासि वृद्धादधिकोऽपि वृद्धः।
स्वषष्टिवर्षानुभवं समस्तं,
कालूगणी तुभ्यमदाद् दयालुः ॥

(१९)

ते षष्टिवर्षा गणिकालुजाताः,
द्वात्रिंशदब्देषु तवैषु युक्ताः।
द्व्यशीतिवर्षायु — रभूत्ततस्ते,
न्यायेन केनासि युवा प्रभो त्वम् ॥

(२०)

निधेहि भारं विपुलं गणस्य,
गोवर्द्धनाद्रेरिव रुक्मिणीशः।
पापाम्बुदाजस्र — विनाशिवृन्दैः,
रक्षां यतो नागरिका लभेरन् ॥

(१७)

पापी मनुष्यों के प्रति आपको कोई द्वेष नहीं है और न धार्मिकों के प्रति राग ही। आपका द्वेष तो जघन्य पाप से और राग उत्तम धर्म से है।

(१८)

कौन अज्ञानी आपको छोटी आयु का युवक कहते हैं। आप तो वृद्ध से भी वृद्ध हैं। कृपाशील श्री कालुगणी आपको अपना साठ वर्षों का अनुभव जो दे गये हैं।

(१९)

श्री कालुगणी के साठ वर्ष आपके बाईस वर्षों में मिल गये, इस प्रकार प्रभुवर! आप ८२ वर्ष के हो गये। तब फिर वह कौन सा प्रमाण है, जिससे आप युवा कहे जांय।

(२०)

मेघों द्वारा की गई विध्वंसक वृष्टि से गोपकुल को बचाने के लिये जिस प्रकार श्रीकृष्ण ने गोवर्द्धन पर्वत का बृहत् भार धारण किया था, उसी प्रकार पापरूपी मेघों की विध्वंसकारिणी वृष्टि से मानव समुदाय को सुरक्षित रखने के लिये आप गण का विपुल भार ग्रहण करें।"

(२१)

अन्येऽपि सर्वे मुनयो विनीताः,
गणीन्द्रपादाब्जयुगं स्पृशन्तः।
न्यवेशयन् मन्त्रिवचोऽम्बुराशौ,
स्ववाक्य — वारीणि नदस्वरूपाः॥

(२२)

अवेक्ष्य संपद्भि — रुतगात्रं,
स्वं सोदरं शासकतां नयन्तम्।
चम्पादिलालोऽपि मुनिर्मनस्वी,
समर्थयामास सुमन्त्रिणोक्तम्॥

(२३)

शीर्णा नृशंसैरिव यातुधानै,
रामावताराय सुरा रमेशम्।
पापैर्हृताः श्रीतुलसीं गृहस्था,
आरोहणायेशपदे विनेमुः॥

(२४)

अभ्यर्थनां सार्थकतासमेतां,
सर्वेण संघेन कृतामजस्रम्।
निशम्य शान्त्या शमिनामधीशः,
स्वादुस्वरेणेति सभां बभाषे।

(२१)

दूसरे भी विनयशील श्रमणों ने गणिवर के चरण-कमलों का संस्पर्श करते हुए विशाल नदियों की तरह अपना वाक्यरूपी जल मंत्री मुनि के वचनरूपी समुद्र में उंडेल दिया। अर्थात् जिस प्रकार नदियाँ अपना जल समुद्र में मिला देती हैं, उसी प्रकार अन्य श्रमणों ने मंत्री मुनि के वचनों में अपने वचन मिलाये। ठीक वही उन्होंने भी निवेदित किया, जो मन्त्री मुनि कर रहे थे।

(२२)

धर्म-शासन के अधिनायकत्व के रूप में जिन्हें अध्यात्म-संपदा प्राप्त होने जा रही थी, ऐसे अपने कनिष्ठ बन्धु को उद्दीप्त कर मुनि श्री चम्पालालजी ने भी मन्त्री मुनि के वचनों का समर्थन किया।

(२३)

राक्षसों के द्वारा उत्पीड़ित देवताओं ने राम के रूप में अवतार लेने के लिये विष्णु के चरणों में अभ्यर्थना की थी, उसी प्रकार पापों से प्रताडित हो रहे गृही वृन्द ने आचार्य-पद का उत्तरदायित्व सम्हालने के निमित्त श्री तुलसी के चरणों में प्रार्थना की।

(२४)

सारे संघ द्वारा निरन्तर की जा रही सार्थक प्रार्थना को सुन, संयमियों के शिरमौर श्री तुलसी शान्तिपूर्वक मधुर स्वर से वहाँ स्थित लोगों से कहने लगे—

(२५)

भो मन्त्रिवर्य ! श्रमणाः ! श्रमण्यः !,
सुश्राविकाः ! श्रावकभव्यवृन्द ! ।
यौष्माकवाक्यानि मनोहराणि,
प्रायः प्रविष्टानि हृदःस्थले मे ॥

(२६)

शृण्वन्तु वाक्यं मम सर्वथेति,
प्रसार्य हस्तं कथयांबभूव ।
वोढुं समर्थोऽयमनल्पभार-
मङ्गुष्ठ एको न विनाऽङ्गुलीभिः ॥

(२७)

कालूगणीन्द्रै — र्निजपाणिपद्मैः,
संस्थापितोऽहं नवमे पदेऽस्मिन् ।
तथापि साहाय्यमिति प्रसङ्गे,
आवश्यकीयं बहु युष्मदीयम् ॥

(२८)

नाथः कृषेः कोऽपि कृषीवलैक-
स्तथापि तस्यां कृषका अनेके ।
र्न्ति कार्याणि पृथक्पृथक्तः,
स्वानुसारं कृषि — भर्त्तुरेव ॥

(२५)

"मन्त्रिवर ! श्रमणों ! श्रमणियों ! अन्य श्रावकों एवं श्राविकाओं ! आप लोगों के मनोज्ञ वचन मेरे हृदय में समा गये हैं।"

(२६)

हाथ फलाकर वे कहने लगे—"मैं जो कह रहा हूँ, सुनें। एकाकी अंगूठा अंगुलियों के सहयोग के बिना भारी बोझ को उठा नहीं सकता।

(२७)

यद्यपि श्री कालुगणी ने अपने कर-कमलों से मुझे नवम पट्ट पर संस्थापित किया है पर इस कार्य में आप सबका सहयोग भी बहुत आवश्यक है।

(२८)

यद्यपि खेती का कोई एक ही स्वामी होता है फिर भी उसकी आज्ञा के अनुसार अनेक किसान उसमें भिन्न-भिन्न कार्य करते हैं।

(२६)

क्षेत्रं हलेन प्रतिकृष्य कश्चि—
दन्येन युक्तो वपनं करोति।
तदङ्कुरान् वर्द्धयतीतरोऽद्भि-
र्निराकरोति त्वपरस्तृणानि॥

(३०)

परिश्रमी यः कृषिकार्यकर्त्ता,
तदुन्नतिं कर्त्तु मतिप्रवीणः।
कृपेः पतिस्तत्परितोषहेतोः,
करोति यत्नान् विविधप्रकारान्॥

(३१)

मन्दोऽलसस्तस्कर — कर्मचारी,
विध्वंसयेद्यः कृषिमेव धूर्त्तः।
नाथेन कृष्याः सुविचक्षणेन,
संतर्ज्यते वा परिमुच्यते वा॥

(३२)

आस्माक — संघस्य तदेव रूपं,
विचारणीयं हृदये समस्तैः।
तुष्टोऽपि कश्चिन्न भवेत्प्रहृष्टः,
कृष्टः समन्तान्न भवेत् स रुष्टः॥

(२९)

कोई हल से खेत जोतता है, दूसरा कोई बीज बोता है, कोई एक जल सींच पौधों को बढ़ाता है, कोई पौधों के पास उसे घास को काट उन्हें (पौधों को) सुरक्षा देता है।

(३०)

कृषि में काम करनेवाला जो परिश्रमी होता है, उसकी (कृषि की) उन्नति में कुशल होता है, कृषिपति उसे परितुष्ट रखने के लिए अनेक प्रकार के यत्न करता है।

(३१)

जो कर्मचारी अकुशल, प्रमादी, कामचोर व धूर्त होता है तथा जो खेती को उजाड़ देता है, कुशल कृषिपति उसे तर्जना देता है अथवा काम से हटा देता है।

(३२)

सब अपने अपने मन में सोचें, अपने धर्म-संघ का यही रूप है। यदि कोई पुरस्कृत किया जाये तो वह हर्षोल्लास में न डूब जाए, यदि दण्डित किया जाए तो रोष न अपना ले।

(३३)

आकर्ण्य वाणीं तुलसीगणीन्दो-
रेकस्वरेणैव समेऽभ्यवोचन् ।
सर्वस्व — मस्माकमिदं गुरूणा-
मास्माकदेहोऽपि न चास्मदीयः ॥

(३४)

अथ प्रथापूर्वम — संख्यलोकाः,
दूरादपि प्रीतिपराः प्रदेशात् ।
अमूल्य — वस्त्राभरणं निधाय,
गङ्गापुरे संमिमिलुस्तदैव ॥

(३५)

रथ्यासु पथ्यास्वपि कोऽपि पन्थाः,
धाराप्रवाहै र्जनताऽऽपगायाः ।
नासीत्तदानीं गमनाय योग्यः,
स्त्रीबालवृद्धा — भयदुर्बलानाम् ॥

(३३)

गणीन्दु श्री तुलसी का यह कथन सुन सभी एक स्वर से कहने लगे—"हमारा सर्वस्व गुरुवर को समर्पित है। हमारा यह देह भी अपना नहीं है।

(३४)

तब उस ऐतिहासिक प्रसंग की गरिमा के अनुरूप दूर दूर से अनेक लोग उल्लास लिये आये, अमूल्य वस्त्र एवं आभूषण पहने वे गंगापुर में एकत्रित हो गये।

(३५)

उस समय विशाल जनतारूपी सरिता का प्रवाह बड़ी-बड़ी गलियों में इस प्रकार व्याप गया कि वे गलियाँ स्त्री, बालक, वृद्ध और रोग-पीड़ित व्यक्तियों के चलने योग्य नहीं रह गई।

(३६)

मरुस्थलस्था अथ मालवीयाः,
सौराष्ट्रजा गुर्जरदेश — जाताः ।
पाञ्चालजाः केऽपि विहारजाताः,
आङ्गाश्च वाङ्गाश्च तथाऽसमस्थाः ॥

(३७)

केचिन्महाराष्ट्रगता उदीच्याः,
निवासिनः केचन राजधान्याः ।
सीमस्थलस्था नयपालजाताः,
समस्थलस्था अपि पर्वतीयाः ॥

(३८)

वेषैस्तदीयै — र्विदितप्रदेशाः,
श्रद्धालवस्साधित — साधुसेवाः ।
पट्टोत्सवे तत्र समेत्य सर्वे,
चक्रुः प्रतीक्षां गणिनो नवस्य ॥

(३६)

समास्तृते प्रोज्ज्वलशुद्ध — वस्त्रै-
र्महोच्चमञ्चे प्रकृति — प्रकृष्टे ।
आवेष्टिते साधु — जनैरनेकैः,
रजोहरैर्हारित — सूक्ष्मजीवैः ॥

(३६-३८)

मारवाड़, मालव, सौराष्ट्र, गुजरात, पांचाल, बिहार, अङ्ग-बङ्ग, असम, महाराष्ट्र, उत्तरप्रदेश तथा भारत की राजधानी दिल्ली, सीमा-प्रान्त, नेपाल आदि पर्वतीय एवं मैदानी भूभाग के निवासी वहाँ आये। उनकी वेषभूषा से उनका निवास-प्रदेश प्रकट था। वे श्रद्धावान् थे, साधुओं की सेवा साधनेवाले थे। आचार्य-पदारोहण-समारोह में उपस्थित वे सब अभिनव गणनायक के दर्शन की प्रतीक्षा में थे।

(३९)

एक उत्कृष्ट उच्च मञ्च था। उस पर उजला, श्वेत वस्त्र बिछा था। अनेक श्रमण, अपने रजोहरणों द्वारा सूक्ष्म जीवों को दूर कर—भूमिशोधन कर उस मंच के चारों ओर संस्थित थे।

(४०)

आरोहणायाभिमुखं तदीयं,
समाव्रजन्तं पथि मन्मथारिम् ।
विशालबाहुं कमलाक्षि — युग्मं,
देवैरिवेन्द्रं मुनिभिः समेतम् ॥

(४१)

आचार्यवर्य्यं तुलसी — गणीन्द्रं,
विलोक्य लोकाश्चकितायमानाः ।
उत्थाय तीव्रैर्जयकार — शब्दै-
रगुञ्जयन् स्वर्गगनाङ्गणानि ॥

(४२)

उच्चैर्निषण्णं सुरवृन्द – गण्यं,
पक्षे सिते भाद्रपदस्य मासः ।
नवं नवम्यां नवमं गणीशं,
ववन्दिरे तं प्रथमं मनुष्याः ॥

(४३)

अनन्तरं मङ्गलमन्त्रपाठा-
न्नाथाय मन्त्रिप्रवरस्य हस्तात् ।
शुभ्रोत्तरीयाम्बर — दानतश्च,
पट्टाभिषेकस्य विधिः समाप्तः ।

(४०-४१)

उस पर आसीन होने के लिये अखण्ड ब्रह्मचारी, विशाल बाहु, कमल नेत्र, आचार्य श्री तुलसी श्रमणों सहित इस प्रकार आ रहे थे, जैसे देवराज इन्द्र देवताओं के साथ आ रहे हों। उन्हें आते देख लोग आश्चर्यान्वित हो गये। अपने-अपने स्थानों से उठ, उच्च स्वर से जय जयकार करते हुए उन्होंने आकाश-रूपी आंगन को गूँजा दिया।

(४२)

उच्च आसन पर विराजित, देवों द्वारा सम्मान्य आचार्य श्री तुलसी को भाद्र शुक्ल नवमी के दिन नवम, अभिनव गणनायक रूप में लोगों ने पहले पहल वन्दन किया।

(४३)

मंगल पाठ हुआ। तदनन्तर मन्त्रिप्रवर ने अपने हाथ से गणिवर को उत्तरीय वस्त्र (पछेवड़ी) समर्पित किया। यों पट्टाभिषेक की विधि सम्पन्न हुई।

ओम्

अथ द्वादश सर्गः

(१)

अथाऽभिषिक्तस्तुलसी — गणीशः,
पट्टे प्रकृष्टे नवमे नवीने ।
आहूय साधूंश्च सतीश्च सर्वाः,
शान्त्या बभाषे विजने प्रदेशे ॥

(२)

भो मामकीनाः श्रमणाः श्रमण्यो,
महाव्रतानि प्रबलानि यूयम् ।
सम्यक्तया संप्रति पालयित्वा,
समुज्ज्वलं भिक्षुयशो विधत्स्व ॥

(३)

युष्मत्प्रयासात् सकलेऽपि देशे,
गृहे गृहे वृद्धिमुपैति धर्मः ।
अहिंसया शोधित — हृत्प्रदेशाः,
पापाद् विरक्ताः पुरुषा भवन्ति ॥

(४)

बालोऽपि सामायिककर्म कृत्वा,
दोषान् स्वकान् शोधयितुं समर्थः ।
माता पिता तस्य कुटुम्बिनोऽपि,
भवन्ति धर्माय सदा सहायाः ॥

(१)

इस प्रकार आचार्य श्री तुलसी नवम, नवीन, उत्तम पट्ट पर समासीन हुए। उन्होंने सब साधुओं और साध्वियों को बुलाया और एकान्त में उन्हें शान्ति-पूर्वक कहने लगे —

(२)

"मेरे श्रमणों ! श्रमणियों ! आप गौरवास्पद महाव्रतों का भली-भाँति परि-पालन करते हुए आचार्य भिक्षु के यश को उज्ज्वल बनाते रहें।

(३)

आप सब का ही यह प्रयास है, जिससे देश भर में सर्वत्र घर घर धर्म का प्रसार हो रहा है, लोग अहिंसा द्वारा अपने हृदय का परिशोधन कर पाप से विरत हो रहे हैं।

(४

उस प्रयास का ही यह फल है—एक बालक भी सामायिक आदि धर्मो-पासना कृत्य कर अपने दोषों का सम्मार्जन करने में सक्षम दीखता है। उसके माता-पिता आदि कुटुम्बी जन उसके धर्मोपासना मूलक कार्यों में सहयोगी रहते हैं।

(५)

गृहस्थ — कार्यं विदधत्यपि स्त्री,
न धर्मकर्मण्यलसा विभाति ।
जहाति चाणक्यचितान् समस्तान्,
स्त्रियाः स्वभावाननृतप्रधानान् ॥

(६)

ते कर्मठा ये जरठाः पदैक-
मपि प्रयाणं न विधातुमर्हाः ।
मुखं यदीयं विमुखं रदेभ्यः,
केशैरशेषैर्धवलाः समन्तात् ॥

(७)

सर्वस्वतन्त्रोऽपि युवा लघीयान्,
विस्तीर्यमाणं व्यसनं विहातुम् ।
उत्थाय संसद्यपि पूरितायां,
त्यागप्रतिज्ञां कुरुते तदीयाम् ॥

(८)

ब्राह्मं मुहूर्त्तं प्रति जागरूकान्,
स्वाध्यायमग्नान् गुरुभक्तिरक्तान् ।
व्रतोपवासादि — नदप्रवाहो,
मोक्षाम्बुधिं प्रापयति प्रबुद्धान् ॥

(५)

अपने गृह-कार्यों में व्यस्त नारियाँ भी धर्माराधना में आलस्य नहीं दिखाती। चाणक्य ने असत्य आदि का आचरण जो नारियों का स्वभाव बतलाया है, सन्नारियाँ उससे परे रह रही हैं। आप सबके प्रयत्न से ही तो यह सब हो रहा है।

(६)

वृद्ध मनुष्य, जो एक कदम भी चल नहीं सकते, जिनके मुँह में एक भी दाँत नहीं है, जिनके बाल सर्वथा सफेद हो गये है, वे भी धर्म-कार्य में कृत प्रयत्न हैं।

(७)

छोटी आयु के युवक भी विस्तार पाते दुर्व्यसनों के परिहार के लिये भरी सभा में खड़े हो उनके त्याग की प्रतिज्ञा लेते देखे जाते हैं। यह और किसका प्रभाव है।

(८)

आप लोगों के प्रयास का ही तो यह फल है कि आज व्रत, उपवास आदि धर्म क्रियारूपी नदी का प्रवाह ब्राह्ममुहूर्त में जागनेवाले, स्वाध्याय में निरत, गुरुभक्ति में अनुरक्त प्रबुद्ध जनों को मोक्षरूपी समुद्र की ओर बढ़ाये ले चल रहा है।

(९)

कालूगणीशो गुरुरस्मदीयः,
स्वर्गस्थलं शास्त्यधुना धुरीणः ।
एकाकिनोऽत्रेति वयं भवाम-
स्तारा इवोर्ध्वे गगने विनेन्दुम् ॥

(१०)

अस्मासु वृद्धा बहवोऽपि यूयं,
जानीथ सारं गणिनो गुणानाम् ।
तत्रापि मन्त्री मुनिवर्यमग्न-
स्तदीय सान्निध्यवशाद् विशेषम् ॥

(११)

नित्यं समीपेन निरन्तरेण,
मयाऽपि सेवा विहिता तदीया ।
ततो विशिष्टानुभवान् स्वकीयान्,
सतां समक्षे प्रकटीकरोमि ॥

(१)

स देवलोका — दवतीर्य भूमौ,
कर्मक्षयार्थं यमनो मिषेण ।
प्रवर्त्तते स्म स्वफलं प्रपद्य,
पुनर्गतस्तत्र — शिवाभिलाषी ॥

(९)

हमारे महान गुरुवर्य श्री कालुगणी अब स्वर्ग का राज्य कर रहे हैं। जिस प्रकार तारे चन्द्रमा के बिना अकेले रह जाते हैं, वैसे ही हम सब एकाकी हो गये हैं।

(१०)

हममें जो बहुत से वृद्ध श्रमण हैं, गणिवर के गुणों का महात्म्य जानते हैं। मन्त्री श्री मगन मुनि उनके अनवरत सान्निध्य का लाभ लेने के कारण विशेष रूप से उनके गुणों से अभिज्ञ हैं।

(११)

मैंने भी निरन्तर उनके सामीप्य में रह उनकी सेवा साधी है। अतः आप श्रमणों के समक्ष अपने विशिष्ट अनुभव प्रस्तुत करने जा रहा हूँ।

(१२)

हमारे गुरुवर कर्मक्षय का अभिप्रेत लिये स्वर्ग से आ संयमी के रूप में पृथ्वी पर अवतरित हुए। मोक्ष की आकांक्षा रखनेवाले वे अपना साध्य साध पुनः वहीं चले गये।

(१३)

स आतपत्रं परमं पवित्रं,
पापातपाद् रक्षयितुं शशाक ।
छायां तदीयां प्रणिपद्यमाना,
वयं प्रसन्ना नितरामभूम ॥

(१४)

भिक्षूपमो वा स जिनोपमो वा,
दोषैः समस्तै रहितो बभूव ।
तेनैव सत्संस्कृतदिव्यभाषा-
महाप्रचारो विहितः स्वसंघे ॥

(१५)

अध्यापित — स्तेन गुरूत्तमेन,
बालोप्यहं पूज्यपदेऽभिषिक्तः ।
सदैव तद्वर्त्म मयाऽनुसार्यं,
विचारणीयं श्रमणैः समस्तैः ॥

(१६)

आवश्यकावश्यकतां स्वशक्त्या,
संपूरयिष्याम्यथ युष्मदीयाम् ।
यौष्माकदुःखेऽस्ति ममाऽपि दुःखं,
यौष्माकहर्षेऽस्ति ममापि हर्षः ॥

(१३)

पाप रूपी आतप से रक्षा करने में वे परम पवित्र आतपत्र—छत्र—छाता थे। उनकी छत्रछाया में हम सब अत्यन्त प्रसन्न रहे।

(१४)

उन्हें जिनेन्द्र के तुल्य कहें या भिक्षुगणी के तुल्य कहें, वें सब दोषों से विरहित थे। उन्होंने देव भाषा संस्कृत का संघ में प्रचुर प्रसार किया।

(१५)

उन गुरुवर ने मुझ बालक को पढ़ाया, आचार्य पद पर समासीन किया। सब साधुओं को यह विदित रहे—मैं सदैव उनके पथ का अनुसरण करूँगा।

(१६)

मैं आप सबकी आवश्यक अपेक्षायें यथाशक्ति पूरी करूँगा। आपके दुःख में मुझे दुःख होगा और आपके हर्ष में हर्ष।

(१७)

क्षुद्रामपि भ्रान्तिमहं सहिष्ये,
न साधुतायां महतोऽपि साधोः।
छिद्रेण तुच्छेन बहिः प्रयाति,
महाघटस्यापि विनिर्मलाम्भः ॥

(१८)

मृत्युर्निवार्यो न भुवि स्थितानां,
गतं न शोचन्ति ततो वरिष्ठाः।
विहाय शोकं निहितोममांसे,
भारो लघुः साधुवरैर्विधेयः ॥

(१९)

अथैकदा कालुविदांवरेण,
चित्तौड़दुर्गे व्रणिते कराब्जे।
ज्ञात्वाऽवसानं झटिति स्वकीय-
मुक्तोहमेवं रहसि प्रभूतम् ॥

(२०)

छोगासती मामकजन्मदात्री,
तपस्विनी साधु — गुणैरुपेता।
बीदासरे तिष्ठति दूरदेशे,
सा द्रष्टुमर्हा न तवाभिषेकम् ॥

(१७)

साधुत्व परिपालन में किसी बड़े साधु की भी त्रुटि सहन नहीं करूँगा। क्योंकि बहुत बड़े घड़े में यदि छोटा सा भी छेद हो जाय तो उसका समग्र निर्मल जल बाहर बह जाता है।

(१८)

जो इस जगत् में बसते हैं, कोई भी उनका मरण टाल नहीं सकता है। अतएव श्रेष्ठ जन उस पर शोकान्वित नहीं होते। आप लोग शोक छोड़कर मेरे कन्धों पर आये उत्तरदायित्व के भार को हलका करें।

(१९)

एक बार विद्वद्वर श्री कालुगणी ने हाथ में व्रण हो जाने पर, उनका अवसान शीघ्र होने को है, यह अनुभवकर मुझे एकान्त में अनेक बातें कही थीं।

(२०)

उन्होंने कहा था, 'मेरी संसारपक्षीया माता साध्वी श्री छोगांजी, जब तपस्विनी है, श्रमणोचित गुणों से युक्त है, दूरवर्ती स्थान बीदासर में प्रवास कर रही हैं, वह तुम्हारा आचार्यपदारोहण नहीं देख पायेंगी।

(२१)

दास्ये पदं ते युवराजसंज्ञं,
संसारमातुर्विमले समक्षे ।
मनोरथोऽयं मम भूतपूर्वो,
दैवादिदानीं विफलः प्रजातः ॥

(२२)

भवत्विदं काऽपि न तत्र चिन्ता,
त्वं भारवाही नियतो मयाऽसि ।
शास्त्राज्ञया भैक्षव — सर्वसंघः,
संचालनीयः सुपथेन नित्यम् ॥

(२३)

चित्ते विधेयं न भयं त्वयेति,
बालोऽस्म्यहं नन्वथवा अदक्षः ।
बाह्योऽतिवृद्धैरितिसंघ — भारः,
कथं ततः स्यां सफलः स्वकार्ये ॥

(२४)

हस्ती विशालोऽपि सुदन्तुरोऽपि,
मदेन मत्तोऽपि भयावहोऽपि ।
स्वतो लघुं केसरिणं विहाय,
प्राप्नोति न स्वां वनराजसंज्ञाम् ॥

(२१)

मेरे मन में यह था, मैं अपनी संसारपक्षीया माता छोगांजी के समक्ष तुम्हें युवाचार्य का पद दूँगा पर संयोग ऐसा बन गया है, मेरा वह मनोरथ पूर्ण नहीं होगा।

(२२)

ऐसी स्थिति बन गई, कोई चिन्ता नहीं। मैंने तुम्हें संघ का भार सौंप ही दिया है। तुम्हें शास्त्रों की आज्ञा के अनुरूप भिक्षु-संघ को सन्मार्ग पर लिये चलना है।

(२३)

मैं बालक हूँ, नई उम्र का हूँ, अविचक्षण हूँ, संघ का उत्तरदायित्व तो वृद्धों द्वारा वहन किया जा सकने योग्य है। तब मैं अपने कार्य में सफल कैसे हूँगा, इस प्रकार चित्त में जरा भी भय न लाना।

(२४)

हाथी बहुत बड़ा होता है, उसके दांत भी बड़े-बड़े होते हैं, वह मदोन्मत्त होता है, देखने में डरावना होता है पर अपने से छोटे सिंह के स्थान पर वह वन का राजा नहीं कहलाता। वन का राजा तो छोटा होता हुआ भी सिंह ही कहलाता है।

(२५)

स्थूलेष्वनिम्नेषु पुरातनेषु,
शस्तेषु शाखाभि — रनोकहेषु ।
नान्येषु सोऽच्छः सुरभिर्विभाति,
यश्चन्दने नन्दयितुं नवेऽपि ॥

(२६)

मयाऽपि वृद्धेन समस्त — विद्या,
समर्पिता तुभ्यमनल्पबुद्धे ।
शीलादिभिः स्वीयगुणैरगण्यै-
र्बालोऽपि भूत्वा जरठायसे त्वम् ॥

(२७)

साधून् समस्तान् सकलांश्च साध्वी-
र्दृशंकया पश्य सदा स्वकीयान् ।
न पक्षपातः क्वचिद् विधेयो,
यो राजधर्मादतिशो विरुद्धः ॥

(२८)

अध्यापने वाऽध्ययने कदापि,
कार्यं न शैथिल्यमनुन्नतिस्थम् ।
अग्रे समेता समयो नवीन-
स्ततोऽपि नित्यं भव सावधानः ॥

(२५)

चन्दन के नये वृक्ष में जो विशद, आनन्दप्रद सौरभ महकती है, अन्य बड़े-बड़े, ऊँचे, पुराने एवं शाखाओं से सुदृढ़ वृक्षों में वह रंचमात्र भी नहीं होती।

(२६)

प्राज्ञवर ! मुझ वृद्ध ने अपनी समग्र विद्याएं तुम्हें दे दी है। बालक होने पर भी शील आदि अपने अनगिनत गुणों के कारण तुम आचरण—कार्य-कलाप में वृद्ध जैसे हो।

(२७)

अपने समस्त साधुओं एवं साध्वियों को सदा एक ही दृष्टि से देखना। कहीं पर भी पक्षपात न करना। वैसा करना राज-धर्म—संघ शासन के अत्यन्त प्रतिकूल है।

(२८)

अध्ययन और अध्यापन में कभी भी शिथिलता न बरतना। इससे अवनति होती है। आगे नया समय आने वाला है, उससे भी सदा सावधान रहना।

(२९)

प्रवर्त्तितव्यं सततं विलोक्य,
क्षेत्रं च कालं च तथा च भावम्।
कालानुकूलं न चलन्ति ये ते,
नदी — प्रवाहाऽभिमुखन्तरन्ति ॥

(३०)

यियासुना स्वर्गतलं प्रकृष्ट-
मित्थं गणीशेन महोदयेन।
सुशिक्षितोऽहं वचनं तदीय-
मपामपामेक — सुधासमानम् ॥

(३१)

सुशिक्षयन् साधुजनाननेन,
नवप्रकारेण नवो गणीशः।
हृष्टः स्वयं हर्षयति स्म सर्वान्,
शिष्यान् स्वकीयान् गुरुपादलग्नान् ॥

(३२)

दूरादुपेताः सखिभिः समेताः,
सिन्धोरिवाम्भो नवतो गणीशात्।
सन्देशमादाय मनुष्यमेघाः,
आशुस्वदेशानगमन् प्रहृष्टाः ॥

(२६)

क्षेत्र, काल, भाव देखकर चलते रहना। जो समय मे अनुकूल नहीं चलते, मानो वे नदी के प्रवाह के सामने तैरते हैं।

(३०)

सुन्दर स्वर्गलोक की ओर जाते, महाप्रतापी गुरुवर ने मुझे यों शिक्षा प्रदान की। पेय पदार्थों में सर्वश्रेष्ठ अमृत की तरह मैंने उनके वचनों को पी लिया।"

(३१)

अभिनव गणिवर ने यों नये प्रकार से साधु-साध्वियों को शिक्षा दे बड़ी प्रसन्नता अनुभव की और गुरु चरणों में अभिनत अपने शिष्य वर्ग को उल्लसित किया।

(३२)

अपने मित्रों सहित दूर-दूर से आये हुए मनुष्य, जैसे बादल समुद्र से जल लेकर चले जाते हैं, उसी तरह आचार्यवर से आध्यात्मिक सन्देश प्राप्त कर अपने-अपने स्थानों को चले गये।

(३३)

सन्दर्शरम्या — मृतवर्षयैते,
समुत्सुकांश्चातक — तुल्यलोकान्,
सन्तर्प्य तेषां विपुलां पिपासां,
माधुर्य — योगादचिरादहापुः ॥

(३४)

अथो मुनीनामधिपः प्रभाते,
भानूपमो रश्मि — समापदेशः ।
पुंसां समेषां हृदयान्धकारं,
विना प्रयासेन जहार वाग्मी ॥

(३५)

न जागरूको यदि कोऽप्युलूको,
नेत्राणि सून्मील्य दिनोदयेऽपि ।
तदा तदीयो निज एव दोषः,
प्रकाशकः सर्वसमो हि दीपः ॥

(३६)

नवीनमाचार्यमवाप्य लोकाः,
विसस्मरुः प्राक्तन — पूज्यवर्यम् ।
द्वितीयदीपेन हते तमिस्रे,
स्मृतेः पथं याति न पूर्वदीपः ॥

(३३)

सन्देशरूपी रमणीय अमृत-वर्षा से पपीहों की तरह उत्सुक व्यक्तियों को उन्होंने सन्तृप्त किया। सन्देश की मधुरिमा ने उन सबकी तीव्र जिज्ञासारूपी पिपासा को हर लिया।

(३४)

इसके अनन्तर प्रातःकाल विद्वद्वरेण्य गणिवर ने, सूर्य जिस प्रकार अपनी किरणों द्वारा अन्धकार को मिटा देता है, अपने उपदेशों द्वारा लोगों के आभ्यन्तर अज्ञान को सहज ही दूर कर दिया।

(३५)

दिन निकल आने पर भी यदि कोई उलूक आँखें खोल जागता नहीं तो यह उसका अपना ही दोष है। प्रकाश देने वाले के लिए सब सब एक जैसे हैं। उसका क्या दोष।

(३६)

अभिनव आचार्य की संप्राप्ति ने पूर्ववर्ती आचार्य को मानो विस्मारित सा कर दिया। जैसे दूसरा दीपक जब अंधेरे को हर लेता है, तब पहला दीपक स्मृति पथ में नहीं आता।

(३७)

स एव भिक्षुः स च भारमल्लः,
स एव कालुस्तुलसीः स एव ।
अभेदतेयं हृदयाञ्जनानां,
न्यवर्त्तयत् कालुगणीशशोकम् ॥

(३८)

कार्यक्रमः पूर्ववदेव सर्वः,
प्रावर्त्तत व्यथितसर्वनिन्दः ।
एकेन हस्तेन परत्र हस्ते,
इवार्तितो बुद्धिमतो जनस्य ॥

(३९)

गणीशकालो — निधनं प्रजातं,
जातं जनुः श्री तुलसीश्वरस्य ।
प्राचीकथन् स्वप्नकथां वृथेमां,
सत्यं रहस्यं तु परैकमस्ति ॥

(४०)

एको गणी भैक्षव — संप्रदायी,
जीर्णानि वस्त्राणि पुरातनानि ।
विहाय नूत्नानि दधाविदानीं,
स्वच्छानि शुभ्राणि चमत्कृतानि ॥

———

(३७)

वे ही भिक्षु गणी हैं, वे ही भारमलजी हैं, वे ही कालुगणी हैं, वे ही तुलसी गणी हैं। इस अभेद भावना ने लोगों के हृदय से श्री कालुगणी के देहावसान के शोक को दूर कर दिया।

(३८)

सभी कार्य पहले की तरह यथावत् चलने लगे। कुछ एक व्यक्तियों द्वारा की गई निन्दा व्यर्थ सिद्ध हुई। जैसे एक बुद्धिमान व्यक्ति अपने एक हाथ से दूसरे हाथ में कोई वस्तु दे देते हैं, उसी प्रकार यह उत्तरदायित्व श्री कालुगणी से श्री तुलसी गणी के पास आया।

(३९)

पूज्य श्री कालुगणी का निधन हो गया, गणिवर श्री तुलसी का नव जन्म—लोग व्यर्थ ही इस स्वप्न कथा को कहते थे। वास्तविक रहस्य तो कोई दूसरा ही था।

(४०)

वह रहस्य था—भिक्षु संघ के आदि नायक (आचार्य) ने अपने जीर्ण व पुरातन वस्त्रों का परित्याग कर, नये, स्वच्छ शुभ्र एवं चमत्कारिक वस्त्र धारण किये।

ओम्

अथ त्रयोदश सर्गः

(१)

अथो व्रतीशो व्रतिनां निमित्तं,
पाठप्रबन्धं सविधि व्यतानीत् ।
जनो लघीया — ननपेक्षितोऽपि,
विद्या — प्रभावाद् गुरुतामुपैति ॥

(२)

विद्यामृतं पूरुष — पादपस्य,
मूले निषिक्तं समयेन यस्य ।
ज्ञानप्रसूनं धवलं ः सूते,
सुस्वादु सन्मुक्तिफलं तदन्ते ॥

(३)

शिष्या अशेषाः श्रमणाः श्रमेण,
कोषाननेकान् बभणुः प्रपूर्णान् ।
आचार्यवर्यः स्वयमेव रात्रौ,
कण्ठस्थ — पाठं श्रुतवांस्तदीयम् ॥

(४)

पाठो यदीयो गृहपुस्तकस्थः,
स लज्जते पण्डित — वर्यपृष्टः ।
सर्पेण दष्ट पुरुषः पृथिव्यां,
वैद्यौषधिः क्वापि हिमालयेऽस्ति ॥

(१)

तत्पश्चात् श्रमणों के अधिनायक आचार्य श्री तुलसी ने श्रमणों के अध्ययन की विधिवत् व्यवस्था की। वस्तुतः विद्या का बड़ा महात्म्य है, उसके प्रभाव से साधारण और अमहत्त्वशील व्यक्ति भी गौरव पा लेता है।

(२)

जिस पुरुषरूपी वृक्ष के मूल में उपयुक्त समय पर विद्यारूपी अमृत सींचा जाता है, उसके ज्ञानरूपी उज्ज्वल पुष्प तथा अन्त में मोक्षरूपी अन्तर आह्लादप्रद फल लगता है।

(३)

उनके श्रमण-शिष्यों ने अनेक कोष सम्पूर्णतः पढ़ डाले। आचार्यवर स्वयं रात को उनका कण्ठस्थ पाठ सुनते।

(४)

जिस व्यक्ति का पठित पाठ घर में रखी पुस्तक में है अर्थात् जिसे अपना पढ़ा हुआ पाठ कण्ठस्थ नहीं है, वह पण्डितों द्वारा पूछे जाने पर लज्जित हो जाता है। जैसे किसी व्यक्ति को साँप ने डस तो लिया है पृथ्वी पर और वैद्य द्वारा बतलाई गई उसकी औषधि है हिमालय पर्वत पर, तब सर्पदष्ट व्यक्ति को उस औषधि से कब लाभ पहुँचेगा।

(५)

कोपोऽक्षयो यस्य बुधस्य राज्ञो,
वादं स युद्धञ्च जयेदवश्यम् ।
राणाप्रतापेन जितं हि युद्धं,
स्वकीयमन्त्र्यर्पित — कोपयोगात् ॥

(६)

विस्तार्य वालुं लघवः पृथिव्यां,
स्वतर्जनीभिर्मुनयो विलिख्य ।
कण्ठस्थितै — र्व्याकरणस्य सूत्रै-
र्मिथो वितन्वन्त्यथ शब्दसिद्धिम् ॥

(७)

बोधं विशुद्धं परिलब्धुकामो,
यः शब्दनिर्माणविधिं न वेत्ति ।
स तेन वैद्येन समोऽल्पबोधो,
दत्ते परैर्निर्मित — भेषजानि ॥

(८)

तथैव साध्वीः स्वयमेव दक्षो,
गणाधिपः पाठयति स्म पूर्णम् ।
यत्र स्त्रियः सन्ति विवेकशून्याः,
संघो गृहं वा स विनाशमेति ॥

(५)

जिस राजा का कोष खजाना अक्षय होता है, जिस विद्वान् का कोष—शब्द-भण्डार अक्षय होता है, वह राजा संग्राम में और वह विद्वान् वाद—शास्त्रार्थ में अवश्य विजेता होता है। राणा प्रताप ने अपने मन्त्री भामाशाह द्वारा दिये गये कोष—धन के खजाने के योग से ही युद्ध जीता।

(६)

छोटे-छोटे श्रमण पृथ्वी पर बालू फैलाकर अपनी तर्जनी अंगुलियों से उनपर लिखकर व्याकरण के कण्ठाग्र सूत्रों द्वारा आपस में शब्द-सिद्धि करते थे।

(७)

जो शब्दों का विशुद्ध ज्ञान तो चाहता है पर शब्दों के बनाने की विधि नहीं जानता, वह उस वैद्य के समान अल्पज्ञ है, जो दूसरों द्वारा बनाई हुई औषधियों का प्रयोग करता है, स्वयं औषधि का निर्माण करना नहीं जानता।

(८)

विज्ञ गणाधिप जिस प्रकार साधुओं को अध्ययन कराते थे, इसी प्रकार साध्वियों को भी अध्ययन कराने लगे। जहाँ स्त्रियाँ विवेकवती नहीं होती, वह चाहे धर्म-संघ हो अथवा घर, शीघ्र ही नष्ट हो जाता है।

(९)

साहित्य — शास्त्राणि रुचिप्रदानि,
सर्वैरलङ्कार — रसैर्युतानि ।
अधीयते केचन साधुवर्याः,
उद्धर्त्तुकामाः प्रतिभां स्वकीयाम् ॥

(१०)

तेभ्यो विना ये कवितासु रक्ताः,
विवाहिता काऽपि वधूर्बुधैस्तैः ।
ग्राम्या स्वलङ्काररसानभिज्ञा,
गिरा कठोरा वनमानुषीव ॥

(११)

दिव्यानि काव्यानि पुरातनानि,
नवानि वा विज्ञविनिर्मितानि ।
अधीतवन्तो वहु साधुवर्याः,
गुरोर्मुखादेव मितस्मिताभात् ॥

(१२)

पठन्ति काव्यं कविपुङ्गवानां,
न येऽमृतं चाचमितुं पवित्रम् ।
ते कूपमण्डूक — समाः स्वगेहं,
विहाय नान्यत्र हि पर्यटन्ति ॥

(९)

कुछ एक श्रवण अपनी कवित्व प्रतिभा को विकसित करने के लिये अलंकार रस आदि से युक्त, सुरुचिमय साहित्य-शास्त्र का अनुशीलन करते थे।

(१०)

साहित्य-शास्त्र के अनुशीलन के बिना जो पण्डित कविता करता है, उसकी स्थिति ऐसी है—मानो उसका एक ऐसी ग्रामीण कन्या से विवाह हो गया है, जो अलंकार (आभूषण) और रस से अनभिज्ञ है, जिसकी वाणी में कठोरता है और जो वनमानुषी के तुल्य है। अर्थात् साहित्य-शास्त्र में अनभिज्ञ विद्वान् द्वारा रची हुई कविता अलंकार व रस से शून्य होती है, उसकी भाषा में कर्कशता रहती है, उसमें शालीनता नहीं होती।

(११)

साधु-गण गुरुवर के मुख से, जिस पर सदा मन्द मुस्कराहट बनी रहती है, उत्कृष्ट कोटि के प्राचीन काव्य तथा विशिष्ट विद्वानों द्वारा रचित नवीन काव्य पढ़ने लगे।

(१२)

जो पवित्र काव्य-रसामृत का पान करने के लिए श्रेष्ठ कवियों के काव्य नहीं पढ़ते, वे कुएँ के मेंढकों के समान हैं, जो अपने घर को छोड़ कहीं अन्यत्र पर्यटन नहीं करते।

(१३)

आध्यात्मिकेषु प्रखरार्थवत्सु,
स्वेषां परेषामपि दर्शनेषु ।
स स्नातकान् कारयितुं बभूव,
मुन्यद्वितीयान् श्रमणान्स्वकीयान् ॥

(१४)

अधीय शब्दादिकसर्वशास्त्रं,
नाधीतवान् यः शुभदर्शनानि ।
उप्त्वाऽपि माकन्द — मवाप्यमुच्चै-
र्न तत्फलं याति स वामनत्वात् ॥

(१५)

ज्योतिर्विवेकं फलितातिरेकं,
साधुत्व — संसाधनदत्तयोगम् ।
केचित्तदीया मुनयो न्यगृह्णन्,
जातिस्वभावाद् गणिते प्रवीणाः ॥

(१६)

ये साधुताया अविरोधभाज-
स्तान् स्वास्थ्यबोधानपि वैद्यसिद्धान् ।
शल्यक्रियां स्वीयकरेण साध्या-
मशिक्षयन् ग्रन्थिविदारणाय ॥

(१३)

आचार्य प्रवर ने अपने अन्तेवासी श्रमणों को जैन दर्शन तथा अन्य गम्भीर आध्यात्मिक दर्शनों में भी निष्णात एवं अप्रतिभ बनाया।

(१४)

जिसने व्याकरण आदि सभी शास्त्र पढ़े पर दर्शन शास्त्र नहीं पढ़े तो वह उस बौने जैसा है, जिसने आम का वृक्ष तो बो दिया पर उसके फलने पर फल नहीं पा सकता, वे बहुत ऊँचे जो होते हैं। उन्हें प्राप्त करने के लिये तो बहुत ही ऊँचा होना चाहिए।

(१५)

कई मुनि फलित को छोड़ ज्योतिष का वह अंश, जो साधुत्व की साधना में उपयोगी है, पढ़ने लगे। वे गणित में जाति-स्वभाव वश प्रायः (वैश्य जाति के होने के कारण) निपुण होते ही हैं। इससे उनके ज्योतिष अध्ययन में सहज ही सरलता बन गई।

(१६)

कुछ एक साधु आयुर्वेद द्वारा निरूपित स्वास्थ्य विज्ञान सम्बन्धी उन विषयों का अनुशीलन करने लगे, जो साधुत्व के प्रतिकूल नहीं हैं। फोड़ा आदि के आपरेशन के निमित अपने हाथ से शल्य-क्रिया सम्पादित करना भी वे सीखने लगे।

(१७)

नान्धा यतो जीवदयासमर्था-
स्तैः साधुवर्य्यैर्निपुणै — स्तदीयैः।
अक्ष्णामशिक्षि प्रकटास्त्रवेध-
श्चक्षूंष्यशल्यानि विधातुकामैः॥

(१८)

जाताः परे लेखकलासु दक्षाः,
सूक्ष्मातिसूक्ष्माक्षर — लेखभाजः।
तेषां यशो गायति मूकपत्रं,
तैरेव सम्यग् लिखितं विचित्रम्॥

(१९)

पवित्र – चित्राणि विचित्रितानि,
सार्थै — स्तदर्थैः प्रारगर्भितानि।
शिक्षा — प्रदाने सहयोगदानि,
तैश्चित्रकाराद् वहुशिक्षितानि॥

(२०)

साध्व्योऽपि सूचीगतसर्वशिक्षां,
यावत् स्ववस्त्रोचितसीवनानि।
रजोहरादेर्विविधांश्च वन्धान्,
जज्ञः प्रयासेन विना प्रहृष्टाः॥

(१७)

आँखों में यदि ज्योति न रहे तो जीवों के प्रति अहिंसा का भली-भाँति पालन नहीं किया जा सकता। दूसरों से साधु आपरेशन करा सकते नहीं। अतएव कतिपय निपुण साधुओं ने नेत्रों को निःशल्य—निर्दोष बनाने का अभिप्रेत लिये आँखों की शल्यक्रिया (आपरेशन की विधि) भी सीखी।

(१८)

कई एक साधुओं ने लेखन-कला में अच्छा नैपुण्य प्राप्त किया। वे अत्यन्त सूक्ष्म से सूक्ष्म अक्षर लिखने लगे। उन द्वारा सुन्दर रूप में लिखे गये वैचित्र्य-पूर्ण मूक पत्र मानो उनका स्वयं यश गाते हैं। अर्थात् वे पत्र उनके यश के निदर्शन है।

(१९)

कई एक साधुओं ने चित्रकारों से अनेक प्रकार के सात्विक चित्र अपने में सन्निहित अर्थ की सम्यक् अभिव्यक्ति देने का जिनमें वैशिष्ट्य रहे, सत् शिक्षा देने में सहायक हों, बनाने की कला भी सीखी।

(२०)

साध्वियाँ भी अपने वस्त्रों के लिये जैसी, जितनी अपेक्षणीय होती है, सिलाई की कला सीखती थीं। उन्होंने रजोहरण बनाना, उसके विविध बन्धों को बांधना आदि भी भली-भाँति सीखा।

[[illegible], त्रयोदश सर्ग]

(२१)

सर्वप्रियां भारत — राष्ट्रभाषां,
रम्याक्षरां संस्कृत — पूर्वपुत्रीम् ।
सकोष — सव्याकरणां विशुद्धां,
ते सेतिहासामपठंश्च हिन्दीम् ॥

(२२)

स्वराज्यनिर्वासित — भूतपूर्व-
पृथ्वीपति — प्रास्वरप्रचाराम् ।
व्याप्तां समस्तेऽपि भुवः प्रदेशे,
तेऽभाषुरप्यागल — मांग्लभाषाम् ॥

(२३)

श्रुत्वा मुनीनां तुलसीश्वराणां,
पूर्णं चतुर्मास — विशेषवासम् ।
अवादिषुः पादपयोजयुग्मे,
गङ्गापुरस्थाः प्रणिपत्य पौराः ॥

२४)

भवान् विवस्वान् जनमानसानां,
ध्वान्तं विहन्तुं वियतोऽवतीर्णः ।
गते त्वयीतो वयमम्बुजानि,
कथं समन्तात् परिफुल्लिताः स्मः ॥

(२१)

जो भारत की राष्ट्र भाषा है, जिसकी लिपि बड़ी सुन्दर है, जो संस्कृत वाणी की प्रथम पुत्री है, जो विशुद्ध है, सबको प्रिय है, ऐसी हिन्दी भाषा भी वे (साधु-साध्वीगण) उसके कोष, व्याकरण व इतिहास के साथ पढ़ने लगे।

(२२)

भारत के स्वतन्त्र हो जाने के बाद जो अपने स्थान को लौट गये हैं, ऐसे भूतपूर्व अंग्रेज शासकों द्वारा जो विशेष-रूप से प्रचारित की गई थी, जो आज समस्त भूमण्डल में व्याप्त है, उस अंग्रेजी भाषा का भी कतिपय श्रमणों ने सम्यक् अध्ययन किया।

(२३)

आचार्य श्री तुलसी का चातुर्मासिक प्रवास सम्पन्न हो गया है, यह सुन गंगापुर के नागरिक उनके चरण-कमलों में अभिनत हो, निवेदन करने लगे :—

(२४)

"आप लोक-मानस के अधकार को मिटाने के लिए मानो आकाश में अवतरित हुए सूर्य हैं। आपके यहाँ से विहार कर जाने पर कमलों के समान हम कैसे विकसित रहेंगे। अर्थात् हमारा विकसन—आनन्द छिन हो जायेगा।

(२५)

सर्वोच्चमञ्चेऽथ विराजमानः,
प्रतीयसे त्वं भगवानिवैव।
मन्त्रीति मग्नो निकटस्थितस्ते,
न गोतमादन्यतमो विभाति॥

(२६)

त्यजन्ति सङ्गं न विरोधिनस्ते,
मन्यामहे तैरपि रक्ष्यसे त्वम्।
शृङ्गाटकानामपि कण्टकाना-
मारक्षणार्थं सह जन्म जातम्॥

(२७)

गुणांस्त्वदीयान् प्रणिबुद्ध्य दोषान्,
ते व्यापयन्ति प्रकटं पृथिव्याम्।
विवर्द्धते तेन यशस्त्वदीयं,
शुभ्रं शरच्चन्द्रमसा समानम्॥

(२८)

स्वामिन् समेषामपि कल्मषानां,
चिरार्जितानामथवा नवानाम्।
समन्ततः संप्रति शोधनाय,
गङ्गाऽसि गङ्गापुरवासिनां त्वम्॥

(२५)

सर्वोच्च मंच पर आसीन आप साक्षात् भगवान् महावीर के समान प्रतीत होते हैं। आपके समीप-स्थित मन्त्री श्री मगन मुनि गौतम गणधर से अन्य प्रतीत नहीं होते अर्थात् वे गौतम गणधर जैसे लग रहे हैं।

(२६)

आपके विरोधी भी आपका साथ नहीं छोड़ते। प्रतीत होता है, वे भी मानो आपकी रक्षा करते हैं, सिंघाड़ों के कांटे उनकी रक्षा के लिए साथ ही तो उत्पन्न होते हैं।

(२७)

आपके गुणों को दोष जान वे विरोधी जन पृथ्वी पर उन्हें प्रसारित करते हैं। परिणामतः आपका चन्द्रमा के समान शुभ्र यश सर्वत्र वृद्धि पाता जा रहा है।

(२८)

प्रभो! चिरकाल से संचित तथा नवीन पापों के सम्यक् प्रक्षालन के लिए आप हम गङ्गापुरवासियों के लिए इस समय गंगा हैं।

(२६)

आस्माकदोषान् बहुशो विवृद्धान्,
त्वमेव विध्वंसयितुं समर्थः।
विमर्दकः को जगतीत्रयेऽपि,
मेघं विना चातकपातकस्य ॥

(३०)

संयोगमासाद्य तव प्रसन्नाः,
ये मानवा वा महिला इहत्याः।
वियोगरोग — प्रणिपीड़िताङ्गाः,
कमाश्रयिष्यन्ति भिषग्वरं ते ॥

(३)

दूरेऽपि गत्वा भगवन्! कुहापि,
स्वकिंकराणां स्मरणं न हेयम्।
करोत्युपेक्षां गगनस्थितोऽपि,
न वारिवाहः स्वकृषीवलानाम् ॥

(३२)

श्रुत्वाऽथ सर्वं मधुरं बभाषे,
भक्तान् जनान् भाविवियोगभीतान्।
दयोदधिः श्री तुलसी गणीशो,
मा भैष्ट यूयं विहृते मयीति ॥

(२६)

अत्यधिक पढ़े हुए हमारे दोषों का नाश करने के लिए आप ही सामर्थ्यवान् हैं। पापियों के पातक—कष्ट—तृपा को मेघ के अतिरिक्त और कौन मिटाने में समर्थ होता है।

(३०)

आपके संयोग—सत्संग को पाकर यहाँ के पुरुष, नारियाँ जो बहुत आनन्दित हैं, अब वियोगरूपी रोग से उत्पीड़ित होकर किस वैद्य का आश्रय लेंगे।

(३१)

प्रभुवर! आप कहीं दूर जाकर भी हम सेवकों को भूल न जाएं। मेघ आकाश में रहता हुआ भी अपने किसानों की उपेक्षा नहीं करता।"

(३२)

यह सुन दया के समुद्र गणिवर श्री तुलसी ने अपने भक्त-जनों को, जो भावी वियोग से भीत जैसे थे, मधुर स्वर से कहा—"मेरे विहार कर जाने पर आप आकुल न होवें।

(३३)

वने स्थितान् वा स्वगृहे स्थितान् वा,
बलातिगान् वा बलवर्जितान् वा ।
एकाकिनो वा समहाजनान् वा,
धर्मः सदाः रक्षति सर्व दुःखात् ॥

(३४)

दूरस्थितोऽप्यस्मि तदीयपार्श्वे,
यो मन्यते मे रुचिरोपदेशम् ।
श्लिष्टोऽपि दूरे स तु भस्मनीव,
घृतं हुतं यत्र मदीयवाक्यम् ॥

(३५)

उपेक्षितं येन गृहं स्वमेव,
साधुः स केषां वितनोतु मोहम् ।
वयं स्वकीयैर्नियमै — र्निबद्धाः,
न क्वापि कालादधिकं वसामः ॥

(३६)

सुप्रार्थितोऽपि प्रणिबद्ध्य हस्तौ,
भीष्माच्च शस्त्रादपि भर्त्सितोऽपि ।
पूषा प्रतीचीं प्रणिपद्यमानः,
पथि क्षणायापि किमद्य तिष्ठेत् ॥

(३३)

चाहे बनवासी हों, गृह-वासी हों, चाहें निर्बल हों, सबल हों, चाहे एकाकी हों, बहुत लोगों के साथ हों, धर्म सदा सब दुःखों से छुटकारा दिलाता है।

(३४)

मैं दूर स्थित होता हुआ भी उसके समीप ही हूँ, जो मेरा हितकर उपदेश मानता है। राख में होमे हुए घृत की तरह जहाँ मेरा वाक्य निष्फल है अर्थात् मेरे उपदेश पर जो जरा भी गौर नहीं करता, अत्यधिक निकट होने पर भी मैं वस्तुतः उससे बहुत दूर ही हूँ।

(३५)

जिसने अपने घर की भी पर्वाह नहीं की, उसे भी छोड़ दिया, वह संन्यासी किसका मोह करेगा। हम अपने नियमों से बंधे हैं। कहीं भी परिमित समय से अधिक नहीं रह सकते।

(३६)

पश्चिम की ओर बढ़ता सूर्य हाथ जोड़कर प्रार्थना करने पर अथवा भीषण शस्त्र से डराने पर भी क्या कभी मार्ग में क्षण भर के लिए रुकता है ?

(३७)

नैकत्र वर्षां कुरुते पयोदो,
नैकांघ्रिपे कूजति कोकिलोऽपि ।
गृह्णाति नैकाब्जरसं द्विरेफो,
नैकत्र वा तिष्ठति शुद्धसाधुः ॥

(३८)

इत्थं निशम्यापि महोपदेशं,
गणीशवर्यस्य पुरस्थितानाम् ।
वियोग — शोकाग्निविदग्धवक्षो,
न सर्वशः शीतलतामवाप ॥

(३९)

अथ क्षमां प्रार्थितवत्सु पुंसु,
पादोत्पलेष्वप्यतिशः पतत्सु ।
वदत्स्वजस्रं जयकारशब्दान्,
पङ्क्तिक्रमाच्चोभयतः स्थितेषु ॥

(४०)

शुभ्राणि वस्त्राणि मुदा दधानैः,
रजोहराग्राहत — कक्षभागैः ।
सह प्रतस्थे श्रमणैर्गणीशः,
स्वकीय — हंसैरिव राजहंसः ॥

———

(३७)

बादल एक ही स्थल पर वर्षा नहीं करता। कोयल एक ही वृक्ष पर कूजन नहीं करती। भौंरा एक ही कमल का रस नहीं लेता। उसी प्रकार शुद्ध साधु एक ही स्थान पर नहीं रहता।"

(३८)

इस प्रकार गणिवर का महत्वपूर्ण उपदेश सुनकर भी नगरवासियों का भावी वियोग जन्य दुःख की अग्नि से जलता हुआ हृदय सर्वथा शीतल नहीं हुआ।

(३९-४०)

लोग क्षमा-प्रर्थना कर रहे थे, चरण-कमलों में पुनः पुनः प्रणिपात कर रहे थे, उच्च स्वर से जय जयकार कर रहे थे, दोनों ओर पंक्ति बद्ध रूप में खड़े थे, इस बीच सफ़ेद वस्त्र धारण किए हुए, अपने अपने रजोहरण के अग्रभाग को बगल में दबाये हुए श्रमणों के साथ गणिवर ने प्रस्थान किया, मानो अपने हंसों के साथ राजहंस जा रहा हो।

ओम्

अथ चतुर्दश सर्गः

(१)

स्वस्कन्धयोः पुस्तकपत्रपात्र-
भारं वहद्भिः पटखण्डबद्धम् ।
निरन्तरं दृष्टिमधः क्षिपद्भि-
रालम्ब्य मौनं सततं व्रजद्भिः ॥

(२)

पादप्रविष्टाधम — कण्टकानि,
स्वपाणिना निर्मितदारुसूच्या ।
क्षणाय निस्सारयितुं निपद्य,
पुनः सहान्यैः क्रमशश्चलद्भिः ॥

(३)

बालैश्च वृद्धैर्युवभिर्गुरूणां,
सेवैकधर्मैः श्रमणैः समेतः ।
प्रस्थित्य गंगापुरतो गणीशः,
उल्लंघयामास सुदूरमार्गम् ॥

(४)

वियत्तलं चुम्बिभिरभ्रपांसु-
पुञ्जैर्मुखान्तर्बहुशो विशद्भिः ।
दिनं निशायां परिवर्तयद्भिः,
भूम्युद्धृतं — मोटरवाजियानैः ॥

(५)

कोलाहलैश्चाप्य — दुर्मीयमानं,
पृष्ठागतं पौरनृणां समूहम् ।
विज्ञाय विश्राममियाय रामः,
साकेतपुर्यां वसतामिवायम् ॥

(१-३)

कपड़े के टुकड़ों में बन्धे हुए पुस्तक, और पात्र का भार अपने कन्धों पर लिए, निरन्तर अपनी दृष्टि नीचे की ओर रखते हुए, मौन का आलम्बन कर अनवरत रूपेण चलते हुए, पैर में गड़े हुए दुष्ट काँटों को अपने हाथ से बनाई हुई काठ की चींपड़ी (कांटा निकालने के लिए प्रयोक्तव्य सूचि-विशेष) से निकालने के लिए क्षण भर के लिए बैठ फिर औरों के साथ चलते हुए, गुरु-सेवा में निष्ठावान् बाल, युवक, तथा वृद्ध श्रमणों सहित गणिवर गङ्गापुर से प्रस्थान कर सुदूरवर्ती मार्ग तक आ गये।

(४-५)

जो गगन मण्डल को चूम रही थी, पथचारियों के मुँह में प्रविष्ट होती जा रही थी तथा जिसने दिनको भी रात जैसा बना दिया था, मोटरों और घोड़ागाड़ियों से उठी उस तेज धूल-राशि से तथा जन-कोलाहल से ऐसा अनुमान कर कि पीछे मानव-समुदाय आ रहा है, आचार्य प्रवर उसी प्रकार ठहर गये, जिस प्रकार अयोध्यावासियों की भीड़ को देख राम रुक गये थे।

(६)

संख्यातिरिक्ता बहवः पुमांसः,
क्षणादुपेताः सिकतावसिक्ताः ।
उन्मार्ज्य धूलिं मलिनां ततोऽन्यां,
प्रापुर्विशुद्धां गणिपादलग्नाम् ॥

(७)

पादेषु सर्वान् पतितान् हृदार्द्रान्,
विलोक्य वाग्मी मधुरोपदेशैः ।
सन्तोषयामास ततः समस्ताः,
अनिच्छयाऽपि स्वगृहं निवृत्ताः ॥

(८)

आभूषितः साधुजनैरभिज्ञै-
र्मार्गागतग्रामटिकासु गत्वा ।
अशिक्षितासु प्रथमामृताप्त्यै,
सोऽपग्रहे मेघ इवाभ्यवर्षत् ॥

(६)

धूलि से सने हुए असंख्य मनुष्य क्षण भर में वहाँ आ पहुंचे, अपने पर लगी मलिन धूलि को पोंछ उन्होंने आचार्यवर के चरण-कमलों में लगी विशुद्ध धूलि ग्रहण की।

(७)

जिनका हृदय भक्ति से पिघला था, जो चरणों में नत थे, ऐसे लोगों को देख वाग्मी गणिवर ने अपने मधुर उपदेशों से उन्हें आश्वस्त किया। वे न चाहते हुए भी अपने-अपने घर लौट गये।

(८)

विद्वान् साधुओं से सुशोभित गणिवर ने मार्ग में आये अनेक गांवों व खेड़ों, जहाँ शिक्षा का प्रचार नहीं था, में जाकर, वहाँ के निवासियों को पहले पहल अपने उपदेशामृत का पान कराने के लिए वाग्वृष्टि की। ऐसा लगा-मानो दुर्भिक्ष में मेघ बरसा हो।

(९)

विधेः कृते माघमहोत्सवस्य,
ततो गणी न्यावरनामपुर्याम् ।
अभ्यर्थितः पौरजनैरसंख्यैः,
पदार्पणं स्वं व्यधितप्रकृष्टम् ॥

(१०)

लालायिताः सद्गुरुदर्शनार्थं,
दूरस्थिताः साधुजना अशेषाः ।
विहाय वृद्धांश्च गदार्दितांश्च,
गण्यर्णवं प्रापुरथो नदाभाः ॥

(११)

शोकाग्निदग्धा अपि भूतपूर्व-
स्वर्गस्थलप्राप्त — गणीश्वरस्य ।
गुरोर्नवीनस्य वचोऽमृतेन,
सिक्ताः प्रसेदुर्द्विगुणत्वमाप्य ॥

(१२)

क्षिप्ते पुराणे स्वमणौ प्रकृष्टे,
स्थाने तदीये विशदं नवीनम् ।
महाप्रकाशं मणिमाप्य केऽपि,
न चक्रिरे ध्वान्तविवृद्धिभीतिम् ॥

(९)

असंख्य नागरिकों द्वारा की गई प्रार्थना पर आचार्यवर ने मर्यादा-महोत्सव के लिए ब्यावर में पदार्पण किया।

(१०)

केवल वृद्धों और रुग्णों को छोड़, दूरवर्ती स्थानों में स्थित सभी साधु-साध्वीगण गुरुवर के दर्शन की उत्सुकता लिए उनसे इस प्रकार आ मिले, जिस प्रकार बड़ी-बड़ी नदियाँ समुद्र में आ मिलती है।

(११)

अपने पूर्वतन गणिवर के स्वर्ग-गमन के शोक की अग्नि से दग्ध साधु साध्वी गण ने अपने वर्तमान गुरुवर के शान्तिप्रद वचनों के रूप में द्विगुणित अमृत-सेक पाया।

(१२)

अपना पुराना उत्तम रत्न खो गया। उसके स्थान पर एक विशद, उत्कट ज्योतिर्मय नवीन रत्न प्राप्त हुआ। अज्ञानान्धकार के बढ़ जाने का तब किसी को भय नहीं रहा।

(१३)

अन्यत्समूहे मिलितोऽपि साधु-
संघः पृथक्त्वं न निजं मुमोच।
स्वस्वच्छ — धाराभिरनन्यरूपा,
गंगा प्रयागे यमुना — गतेव ॥

(१४)

सुसज्जिते स्वीयकृते गृहस्थै-
र्महोत्सवार्थं सदने विशाले।
एकत्रिताऽभू — ज्जनताऽप्यपारा,
द्रष्टुं नवाचार्य — नवप्रसंगम् ॥

(१५)

उक्त्वा पवित्रं नवकारमन्त्र-
मावर्त्यमानं सकलैः सदस्यैः।
प्रारब्धपूज्यो विमलैर्वचोभि-
मर्यादिकायाः सकलं रहस्यम् ॥

(१६)

संक्षेपपूर्वं चरितं गदित्वा,
भिक्षोर्गणीशस्य पुरादिमस्य।
मर्यादया जीवदयाविधिज्ञः,
सर्वानयांक्षीत् श्रमणान्स्वकीयान् ॥

(१३)

अन्यान्य लोगों के समूह में मिला हुआ भी वह श्रमण-संघ पृथक्ता नहीं छोड़ता था अर्थात् वह भिन्न ही प्रतीत होता था, प्रयाग में यद्यपि गंगा यमुना से मिल जाती हैं पर वह अप्रतिम रूपशीला अपनी स्वच्छ धाराओं से सर्वथा भिन्न दृष्टिगत होती हैं।

(१४)

लोगों द्वारा महोत्सव के निमित्त अपने लिए निर्मित विशाल मण्डप में अपार जन समुदाय अभिनव आचार्य के अभिनव प्रसंग को देखने के लिए एकत्रित हो गया।

(१५)

आचार्यवर ने नवकार मन्त्र का उच्चारण किया। परिषद्गत सभी लोगों ने उसकी आवृत्ति की। तदनन्तर उन्होंने अपने विमल वचनों द्वारा मर्यादा के रहस्य का विवेचन किया।

(१६)

जीव-दया—अहिंसा के मर्मवेत्ता गणिवर ने आये आचार्य श्री भिक्षु के जीवन के सम्बन्ध में संक्षेप में बतलाया। अपने सभी साधु-साध्वियों को मर्यादाओं से आयोजित किया, महोत्सव की शोभा बढ़ाई।

नवां नवां स्वां कवितां मनोज्ञा-
माचार्यवर्यस्य गुणैः प्रपूर्णाम् ।
उत्थाय केचिन्मुनयः पठित्वा,
महोत्सवं शोभयितुं प्रभूवुः ॥

(१८)

मौनोऽभवं नाहमपि स्वकीयां,
पद्यावलिं श्रावयितुं गुणानाम् ।
उपेत्य रम्याम्रवनं प्रफुल्लं,
न कोकिलः किं मधुरं विरौति ॥

(१९)

समाप्य माघस्य महोत्सवं तं,
प्रहित्य साधून् विविधान्प्रदेशान् ।
शिष्यैस्ततः स्वल्पमितैः समेतो,
मरुस्थलार्थं कृतवान् विहारम् ॥

(२०)

अन्या वरन्यावर — पत्तनस्था-
स्त्वया नितान्तं वचनामृतैः स्वैः ।
इत्याग्रहीतेऽपि पदारविन्दे,
स्वनिश्चयान्नैव चचाल किञ्चित् ॥

(१७)

कई एक मुनियों ने उठकर आचार्यवर के गुणों से परिपूर्ण नई-नई सुन्दर कविताओं का पाठ किया।

(१८)

मैं भी मौन नहीं रहा। आचार्यवर के गुण-कीर्तन में मैंने भी अपनी कविताएँ प्रस्तुत कीं। आम का रमणीय और प्रफुल्लित वन पाकर क्या कोकिल अपनी काकली नहीं उचारती।

(१९)

मर्यादा-महोत्सव सम्पन्न कर, साधुओं का भिन्न-भिन्न प्रदेशों की ओर प्रस्थान करा, आचार्यवर ने थोड़े से शिष्यों के साथ मरुभूमि की ओर विहार किया।

(२०)

ब्यावर निवासियों ने उनके चरण पकड़ लिए, निवेदन किया—"अपने वचनामृत से आप हम सबको प्राण दें।" पर आचार्यवर अपने निश्चय से चलित नहीं हुए।

(२१)

श्रद्धालुभिर्भूरिजनैः समेतः,
आवेष्टितश्च व्रतिभिः समस्तैः ।
शिक्षाकृपि ग्रामगणेषु शुष्कां,
पीयूषपूर्णैं — वचनैर्न्यपिञ्चत् ॥

(२२)

विशुद्धवालूद्भव — शुष्कशैलै-
रुच्चावचैर्व्याप्त — चतुर्दिशायाम् ।
अनुर्वरायामपि भू — वरायां,
शिष्टः प्रविष्टः स मरुस्थलस्य ॥

(२३)

तोयान्यपीत्वाऽपि परार्पितानि,
चिराय जीवन्तु फलं ददन्तु ।
कृतोपवासेष्वपि शिक्षयन्तु,
धर्माणि साधुष्विव सुस्थिरेषु ॥

(२४)

लतावितानै रहितेषु तत्र,
योगिष्विव स्त्रीसुतवर्जितेषु ।
शमीकरीरादि — बहुद्रुमेषु,
अपर्यटन् धर्मभृतामधीशः ॥

(२१)

अपने सहवर्ती समस्त श्रमण-श्रमणियों तथा बहुत से श्रद्धावान लोगों सहित आचार्यवर अनेक गांवों में पधारे। वहाँ उन्होंने शिक्षा की सूखती खेती को अपने वचनरूपी अमृत से सींचा।

(२२)

उजली रेत के ऊँचे नीचे सूखे पर्वत (बालू के टीबे) जहाँ चारों दिशाओं में में फैले हैं, जो उर्वर नहीं हैं पर वरिष्ठ हैं ऐसी मरुस्थलीय भूमि में मनस्वी गणिवर ने प्रवेश किया।

(२३)

वहाँ मरुभूमि में सुदृढ़ शमी के वृक्ष थे। कोई उन्हें जल नहीं सींचता फिर भी वे चिरकाल तक जीवित रहते हैं, फल देते हैं। वे उन साधुओं की तरह लगते थे, जो उपवास करते हुए (आहार न लेते हुए) भी दृढ़ता पूर्वक लोगों को धर्म-शिक्षारूप फल देते रहते हैं

(२४)

जिनके पास लताओं का झुरमुट नहीं था, जो स्त्री, पुत्र आदि से रहित योगियों जैसे लगते थे, ऐसे शमी करीर आदि अनेक वृक्षों में से होते हुए भी धर्मनायक आचार्यवर आगे बढ़ जा रहे थे।

(२५)

संदष्टुमिच्छोः शतशो मुखैः स्वैः,
शष्पात् पथः कण्टकिनो विकीर्णात् ।
सहस्रशीर्षादिव सर्पराजात्,
पदे पदे संकुचितो विविभ्यत् ॥

(२६)

फलाय पूर्वं निहिताद् बदर्यां,
ततः क्षतात् कण्टकतः स्वहस्तात् ।
स्नुतेन रक्तेन च विह्वलानां,
शृण्वन् विरावं लघुबालकानाम् ॥

(२७)

पादाब्जयुग्मे परितः पतद्भिः,
श्रद्धाधिया ग्रामजनैरनेकैः ।
गवां पयो वा दधि वाऽथ तक्रं,
समर्पितं सूक्ष्मतया निगृह्णन् ॥

(२८)

आशिक्षितान् जीवदयाविरक्तान्,
हिताहितोद्भासि— विवेकशून्यान् ।
प्रायः प्रलिप्तानतिपापपंकै-
स्तान् स्नापयन् ज्ञानसुरापगायाम् ॥

(२५)

सहस्र मुखवाले शेषनाग की तरह जो अपने सैकड़ों मुखों से काट लेना चाहते हैं, ऐसे मार्ग में फैले कंटीले घास से पद-पद पर बचते हुए वे चल रहे थे।

(२६)

मार्ग में जहाँ तहाँ उन छोटे-छोटे बालकों का रुदन सुनने का भी प्रसंग बनता, जिन्होंने फल तोड़ने के लिए झाड़ी में अपना हाथ डाला और फिर कांटे गड़ जाने से हाथ से खून टपकने लगता, जिससे वे बेहाल हो गये।

(२७)

अनेक ग्रामवासी श्रद्धा-बुद्धि से चरण-कमलों में नत होते, गायों का दूध, दही या छाछ अर्पित करना चाहते, जिसे आचार्यवर ग्रहण करते।

(२८)

जो शिक्षित नहीं थे, अहिंसा से विरत थे, हित-अहित के ज्ञान से शून्य थे, प्रायः पाप के कीचड़ से लिपे थे, ऐसे मनुष्यों को आचार्यवर ज्ञान-गंगा में स्नान करवाते।

(२६)

समेत्य मार्गे पतितैः पदेषु,
संप्रार्थितो भक्तिरतैरनेकैः ।
कर्त्तुं चतुर्मासविधिं गणीशो,
वीकादिनेरं नगरं प्रतस्थे ॥

(३०)

गंगादिसिंहेन नरेश्वरेण,
सुधीमता भुव्यपि निर्जलायाम् ।
रथ्यासु रथ्यास्वपि वाह्यमानां,
ददर्श धारां सलिलस्य तत्र ॥

(३१)

अट्टालिकाभ्यो वियति स्थिताभ्य-
श्चित्रैरनेकै — र्बहुभूषिताभ्यः ।
स्त्रीभिः कृतान् स्वान् जयकारशब्दान्,
गुञ्जायमानानशृणोद् गणीशः ॥

(३२)

विरोधिभिः क्वाप्यधमैरसभ्यै-
र्निर्मूलनिर्गालित — गालिशब्दैः ।
अप्याहतः स्वस्मितशुभ्रदेहान्,
विधाय तान्नाग्रगतिं रुरोध ॥

(२६)

मार्ग में आकर चरणों में झुके अनेक भक्तिमान् नागरिकों की प्रार्थना पर गणिवर चातुर्मासिक प्रवास के लिए बीकानेर पधारे।

(३०)

आचार्यवर ने वहाँ बुद्धिमान् नरेन्द्र श्री गङ्गासिंहजी द्वारा निर्जन भूमि में भी गली-गली में बहाई गई जल-धारा को देखा।

(३१)

अनेक प्रकार की चित्रकारी से सुसज्ज गगनचुम्बी अट्टालिकाओं से महिलाओं द्वारा किया गया, गुँजायमान अपने नाम का जयनाद उन्होंने सुना।

(३२)

कहीं-कहीं निम्न असभ्य विरोधियों ने निष्कारण अपशब्दों की बौछार भी की, आचार्यवर अपनी मन्द मुस्कान से उनके शरीर को शुभ्र बनाते हुए आगे बढ़ते रहे, रुके नहीं।

(३३)

स्तुतिं स्वकीयां कुसुमैः सदृक्षां,
निन्दां निजां प्रस्तरसन्निभां वा।
अमन्यमानो न सुखी न दुःखी,
माना—पमानेषु समश्चचाल ॥

(३४)

प्रतीक्षितं सुन्दरपंक्तिबद्धाः,
स्थिता जनाश्चोभयतः क्रमेण।
गंगामिवद्रिप्रवराः स्वमध्या-
दवाहयन् पूर्णपवित्रमूर्त्तिम् ॥

(३५)

संस्थापितेऽग्रागत — साधुवर्यै-
रुच्चासने शान्तियुतो निषद्य।
आहारदानस्य विशुद्धरीतिं,
निवोधयामास समस्तलोकान् ॥

(३६)

विलोक्य तेजोमयमाननाब्जं,
गणाधिपस्याति — पराक्रमस्य।
स्वादूनि पीत्वा वचनामृतानि,
लोकाः प्रसन्ना हृदयादभूवन् ॥

(३३)

अपनी स्तवना को उन्होंने फूल के समान और निन्दा को पत्थर के समान नहीं माना। इसलिए न सुखी और न दुखी होते हुए समभाव लिये वे चलते रहे।

(३४)

बहुत समय से प्रतीक्षा करते हुए लोग दोनों ओर क्रमबद्ध, सुन्दर पंक्ति बनाये हुए थे, बीच में से परम पवित्र मूर्ति आचार्यवर और उनकी श्रमण-मण्डली चल रही थी। ऐसा लगता था, दोनों ओर श्रेष्ठ पर्वत खड़े हैं, बीच में से परम उज्ज्वल गंगा बह रही है।

(३५)

व्यवस्था के लिए आगे-आगे—आये हुए साधुओं द्वारा तैयार किये गये ऊँचे आसन पर आचार्यवर शान्तभाव से बैठे। अपने प्रवचन के मध्य उन्होंने साधुओं को भिक्षा देने की विशुद्ध रीति के सम्बन्ध में लोगों को बतलाया।

(३६)

परम प्रतापी गणिवर के प्रभामय मुख-कमल का दर्शन कर, उनके मधुर वचनामृत का पानकर लोग मन में बहुत उल्लसित हुए।

(३७)

लक्ष्मीवतः कोट्यधिपाग्रगस्य,
सदैव सर्वस्वसमर्पणेच्छोः।
दानेन भोगेन च नश्यमानां,
पस्पर्श हस्तादपि नैप लक्ष्मीम् ॥

(३८)

तेभ्यो ददानो निजवल्लभां स,
सरस्वतीं दानविवर्द्धमानाम् ।
उपास्यमाने गुणिवृन्दवर्यै-
श्चक्रे न कार्पण्यमुदारचेताः ॥

(३९)

कुवेरकल्पान् धनिकान् धरेन्द्रान्,
विद्वद्वरेण्यान् गुरुणा समानान् ।
अकिञ्चनोऽपि स्वतपोवलेन,
निपातयामास पदाम्बुजे स ॥

(४०)

वर्षां वितन्वन्नमृतस्य वाग्भ्यः,
संजीवयन् पापरुजाहतांश्च ।
स धर्मवैद्यः सदृशोऽश्विनीभ्यां,
व्यज्ञायि लाकैः सदसद्विवेकैः ॥

(३७)

ऐसे लक्ष्मीवान्, कोट्याधीशों में अग्रगण्य, जो सर्वस्व गुरु-चरणों में अर्पित कर देने की भावना रखते हैं, के लक्ष्मी-धन को, जो देने और भोगने से नष्ट होनेवाला है, आचार्यवर ने हाथ से छुआ तक नहीं।

(३८)

गुणिजन द्वारा उपासित, उदारचेता आचार्यवर ने अपनी सरस्वती–वाणी–ज्ञान जो देने से बढ़ता हैं, उन्हें देने में जरा भी कृपणता नहीं की।

(३९)

अकिंचन—सर्वस्वत्यागी आचार्यवर के तप-बल के कारण कुबेर के समान धनाढ्य, बड़े-बड़े भूमिपति, बृहस्पति के समान विद्वान् उनके चरण-कमलों में नत हो गये।

(४०)

वाणी के रूप में अमृत-वर्षा कर पापरूपी रोग से आहत मनुष्यों को नया जीवन देनेवाले अचार्यवर को सत्-असत्-वेत्ता विज्ञ जनों ने अश्विनीकुमारों के तुल्य धर्म-वैद्य माना।

(४१)

विद्यावतां मूर्द्धसमोऽपि भूत्वा,
विद्याप्तये भूरि ततान यत्नम् ।
तोयैरगाधोऽपि सदैव सिन्धु-
र्नाना नदीर्मेलयितुं प्रवीणः ॥

(४२)

जन्मदात्र्यै जनन्यै स,
दत्वा दीक्षाजनुर्नवम् ।
ऋणं संसोधयामास,
तदीयं शिरसि स्थितम् ॥

(४१)

विद्वानों के मूर्द्धन्य होते हुए भी आचार्यवर और विद्या-प्राप्ति के लिए अत्यन्त प्रयत्नशील रहने लगे। यद्यपि समुद्र में अगाध जल होता है, फिर भी वह अनेक नदियों को अपने में मिला लेना चाहता है।

(४२)

जन्मदायिनी मातुश्री वदना जी को श्रामण्य दीक्षा के रूप में नया जन्म देकर आचार्यवर अपने शिर पर स्थित मातृ-ऋण से उन्मुक्त हुए।

ओम्

अथ पंचदश: सर्ग:

(१)

आनन्दतो गणिवरः समये व्यतीते,
ततश्चकार मतिमान् विमलं विहारम् ।
ग्रामेषु वर्त्मनि पुरेषु समागतेषु,
धर्मोपदेशमदित व्यसनानि हर्त्तुम् ॥

(२)

उन्मानसा सलिलतो जलधौ शयित्वा,
देशाञ्चलेन रहितानभिकांक्षमाणा ।
विष्णुप्रिया स्वपतिविष्णुमुपेक्ष्य यस्य,
पादोत्थपांसुषु सदा स्वपिति स्वतन्त्रा ॥

(३)

तत्स सरदारशहरं,
नगरं यातः सरस्वतीनाथः ।
कर्त्तुं चातुर्मासं,
विधिं जनानां विधानेन ॥

(४)

सन्यासी तत्र कश्चिद्द्विगुणगुणगतः संस्कृतस्यातिविद्वान्,
वङ्गाद् शात्समागान्मुनिपतिनिकटे भारतीकृष्णतीर्थः ।
स्याद्वादस्य प्रसंगे सपदि विहितवानुग्रशङ्कामशङ्कः,
तत्कालं कालुशिष्ये द्यति सति कठिनां तां स तूष्णीं बभूव ॥

(१)

चातुर्मास का समय आनन्दपूर्वक व्यतीत हुआ। तब गणिवर ने वहाँ से विहार किया। मार्ग में जो गाँव एवं नगर आये, जन-जीवन में व्याप्त दुर्वृत्तियों को दूर करने के लिए उन्होंने वहाँ धर्मोपदेश किया।

(२-३)

विष्णुप्रिया—लक्ष्मी समुद्र में सोने के कारण मानो जल से कुछ उन्मनी हो गई और जल रहित देशों की आकांक्षा करने लगी। ऐसा प्रतीत होता है—इसी कारण मानो वह अपने पति विष्णु की उपेक्षा कर, जिसकी चरण-धूलि में स्वतंत्रतापूर्वक शयन करती है, उस सरदारशहर नामक नगर में गणिवर तीर्थङ्करों द्वारा निरूपित विधान के अनुरूप चातुर्मास करने पधारे।

(४)

वहाँ गणिवर के सान्निध्य में संस्कृत के प्रौढ़ विद्वान्, भूरिगणशाली भारती कृष्णतीर्थ नामक एक संन्यासी बंगाल से आये। उन्होंने निःशंकतया स्याद्वाद के सम्बन्ध में जटिल शंकाएँ प्रस्तुत कीं। कालुगणी के शिष्य तुलसी गणी ने जब उनका विधिवत् समाधान किया तो वे चुप हो गये।

(५)

विद्वत्तासन्य — साधूनां,
स दृष्ट्वा संस्कृतातिगान् ।
यूनोऽपि गण — नाथस्य,
वृद्धत्वे नाभ्यशङ्कत ॥

(६)

मन्थनं सर्व — शास्त्राणां,
चकार स मुनीश्वरः ।
देवा इव समुद्रस्य,
पातुं मोक्षसुधां सुधीः ॥

(७)

एवं बीदासरे गत्वा,
चतुर्मासक्रियां पराम् ।
कुर्वाणः सर्वलोकाना-
महार्षीत् पापसन्ततिम् ॥

(८)

साधूनां सर्व — साध्वीनां,
सम्यग — ध्यापनं ततः ।
कारयामास धर्मस्य,
सेनायास्ते हि सैनिकाः ॥

(५)

अन्य साधुओं के भी संस्कृत-पाण्डित्य को उन्होंने देखा। आचार्य प्रवर का अगाध पाण्डित्य वे देख ही चुके थे। अतएव उन्हें युवा आचार्यवर के वृद्धत्व में कोई शंका नहीं रही। अर्थात् उन्हें लगा कि आचार्यवर युवा होते हुए भी वृद्धोपम गुण अनुभव एवं योग्यत्व शाली हैं।

(६)

उन्होंने अनुभव किया कि आचार्यवर ने मोक्षरूपी अमृत का पान करने के लिए देवताओं की तरह शास्त्ररूपी समुद्र का मन्थन कर डाला है।

(७)

तत्पश्चात् सबके पाप-समुच्चय को हरते हुए उन्होंने बीदासर में चातुर्मास किया।

(८)

सभी साधुओं और साध्वियों को उन्होंने भली-भाँति अध्ययन कराया। क्योंकि साधु-साध्वी ही तो धर्मरूपी सैनिक हैं।

(९)

ततो विहारं विशदं वितत्य,
ग्रामेष्वनेकेषु पथि स्थितेषु।
धर्मोपदेशं सततं ददानः,
समागतः स्वामथ जन्मभूमिम्॥

(१०)

बाल्ये विहारो विहितो विशेषात्,
सावद्यरूपो मुनिपोत्तमेन।
यस्यां नगर्यां समयेन तस्यां,
कृतो विहारो निरवद्यरूपः॥

(११)

मरुस्थले लाडणुनामधेयां,
पुरीं चतुर्मासकृतेऽभिगम्य।
स्वबाललीलां स्मृतवान् पुराणां,
पदे स्थितः संप्रति माननीये॥

(१२)

लोकैरसंख्यैः स्वपुरीप्रजात-
गणीशसेवा विहिताऽतिहर्षात्।
स्वकीयकूपस्य मनोहरस्य,
हृष्येत् पिबन् को मधुरं जलं न॥

(९)

चातुर्मास-परिसमाप्ति के अनन्तर वहाँ से विहार कर मार्ग में स्थित अनेक गाँवों में अनवरत धर्मोपदेश देते हुए वे अपनी जन्म-भूमि लाडनूं नगर में आये।

(१०)

जहां मुनिपति ने बचपन में सावद्य विहार किया था अर्थात् कुछ समय लौकिक जीवन बिताया था, उसी नगर में उन्होंने निरवद्य विहार किया—आध्यात्मिक जीवितव्य के साथ वहाँ पदार्पण किया।

(११)

मरुधरा के मध्यस्थित उस लाडनूं नगर में आचार्यवर चातुर्मास के निमित्त पधारे। यद्यपि वे अब सम्मान्य पद पर समासीन थे पर अपनी बाल-लीलाओं को भी जो इस नगर में उन्होंने की थी, स्मरण किया।

(१२)

असंख्य लोगों ने अपने नगर में उत्पन्न हुए गणिवर की सेवा अत्यन्त हर्ष के साथ की। अपने सुन्दर कुए के मधुर जल को पीता हुआ कौन हर्षित नहीं होता।

(१३)

संस्कृते पाणिनिरिव,
छन्दःस्विव च पिंगलः ।
साहित्ये कालिदासाभो,
रेजे राजीवलोचनः ॥

(१४)

विद्याम्बुधीन् संस्कृतपारगानपि,
न्यपातयत्पादयुगाम्बुजे निजे ।
विद्यातपस्याढ्य — योग्ययोगतो,
ज्ञानेतरं पापततिञ्च सोऽहरत् ॥

(१५)

विहृत्य तस्या निजजन्मभूमेः,
प्रसादयन् सर्वजनान् गणीशः ।
अध्यापयन् साधुसतीसमाजं,
यशांसि भिक्षोर्द्विगुणानि चक्रे ॥

(१६)

अधीतविद्योऽपि विशिष्टविद्यां,
ग्रहीतुकामो विदधौ स यत्नम् ।
प्राप्याप्य मूल्यानि च मौक्तिकानि,
चिन्तामणिं को न जिघृक्षुरस्ति ॥

(१३)

कमल के समान नेत्रवाले आचार्यवर संस्कृत-व्याकरण में पाणिनि की तरह, छन्द-शास्त्र में पिंगल की तरह और काव्य में कालिदास की तरह सुशोभित हुए।

(१४)

विद्या के सागर, संस्कृत के पारगामी विद्वान् भी गणिवर के चरणों में अभिनत हुए। विद्या और तपस्या—इन दोनों के समुचित योग के कारण आचार्यवर अज्ञान और पाप—दोनों का ध्वंस कर रहे थे।

(१५)

गणिवर्य ने अपनी जन्मभूमि लाडनूं से विहार किया। धर्मोपदेश से लोगों को उल्लसित करने तथा साधुओं एवं साध्वियों को पढ़ाने का सुन्दर क्रम निरन्तर गतिशील था ही। ऐसा कर वे आचार्य भिक्षु के यश को मानो दुगुना कर रहे थे।

(१६)

यद्यपि वे सम्यक्तया विद्यानुशीलन किये हुए थे पर विशिष्ट ज्ञान ग्रहण करने का उनका सदा यत्न रहता। अमूल्य मोतियों को पाकर भी चिन्तामणि रत्न को ग्रहण करना कौन नहीं चाहता।

(१७)

ततश्चतुर्मासकृते कृतीशः,
पुरोचनं राजलदेसराह्वम् ।
अहिंसया निर्हृतसर्वदोषो,
जगाम भक्तैर्बहुभिः समेतः ॥

(१८)

बालकैर्युवभि — र्वृद्धै-
र्महिलाभिः समन्ततः ।
अग्राहि स्वोचितं धर्मं,
श्रीमतः पूज्यपादतः ॥

(१९)

ब्रह्मचर्यव्रतं कश्चित्,
सस्त्रीकः पुरुषोऽग्रहीत् ।
निर्धारितोऽल्प — रूपेण,
केनचित् स्वधनावधिः ॥

(२०)

ततः काले व्यतीतेऽयं,
भ्रमन् ग्रामेषु केषुचित् ।
चतुर्मासकृते चारु,
चूरुपूर्यां समागतः ॥

(१७)

कृतित्वशील पुरुषों में शिरोमणि, अहिंसा द्वारा सब दोषों के विजेता आचार्यवर राजलदेसर नामक सुन्दर शहर में चातुर्मास करने के लिए भक्तिसान् लोगों सहित पधारे।

(१८)

ओजशील आचार्यवर से बालकों, युवकों, वृद्धों, महिलाओं आदि सभी ने अपने-अपने योग्य धर्म—व्रत, नियम आदि स्वीकार किये।

(१९)

किसी एक पुरुष ने सपत्नीक व्रत स्वीकार किया। किसी ने अल्पतम धन रखने की मर्यादा निर्धारित की।

(२०)

फिर समय बीतने पर कतिपय ग्रामों में पर्यटन करते हुए वे चारुतामय चूरू नगर में चातुर्मास के लिये पधारे।

(२१)

केश्चित्कुबेर — संकाशैः,
केश्चित् पाणिनिभिर्नवैः ।
केश्चिद्राजो — पसंसृष्टैः,
स्वागतं विहितं मुनेः ॥

(२२)

अनल्पं फलमादातुं,
जंगमात् कल्पपादपात् ।
भाग्यवन्तो महात्मानः,
समायाताः सहस्रशः ॥

(२३)

क्षुद्रग्राम — निवासिभ्यो,
रहितेभ्योऽपि शिक्षया ।
दत्तवान् धार्मिकं ज्ञानं,
ततोऽपि विहरन् गणी ॥

(२४)

बीकानेर — समीपस्थे,
गंगाशहर — नामके ।
चतुर्मासविधिं स्वीयं,
स कर्त्तुं समुपागमत् ॥

(२१)

वहाँ आचार्यवर का कुबेर के समान धनिकों, पाणिनि के तुल्य विद्वानों, तथा राजकीय पदों पर अधिष्ठित व्यक्तियों ने अभिनन्दन किया।

(२२)

गणिवररूप गमनशील कल्पवृक्ष से विपुल फल पाने की आकांक्षा लिये हजारों सौभाग्यशाली सत्पुरुष उनके सम्पर्क में आये।

(२३)

चातुर्मास का परिसमापन कर गणिवर ने वहाँ से विहार किया। मार्ग में जो भी छोटे-छोटे गाँव आते, वहाँ के अपठित निवासियों को वे धार्मिक ज्ञान देते।

(२४)

इस प्रकार वे बीकानेर के समीपवर्ती गंगाशहर नामक शहर में चातुर्मास करने पधारे।

(२५)

पण्डिता बहवस्तत्र,
सर्वशास्त्र — विशारदाः।
उद्गिरन्तः समायाताः,
संस्कृतं ललितैः पदैः॥

(२६)

धाराप्रवाह — रूपेण,
साधूनां संस्कृतीं गिरम्।
आश्चर्यमागताः श्रुत्वा,
सर्वालंकार — भूषिताम्॥

(२७)

तत्रा — नुशीलयन्नाना,
शास्त्राणि महतां वरः।
सार्द्धं पापैर्जगद्वद्धै-
रविद्या — मप्यनाशयत्॥

(२८)

लोकान् विहाय शोकार्त्तान्,
विहारं कृतवान् सुधीः।
बोधयामास सद्धर्मं,
ग्रामे ग्रामे पुरे पुरे॥

(२५)

सब शास्त्रों के वेत्ता अनेक विद्वान् वहाँ आचार्यवर के सान्निध्य में आये। वे ललित पदों द्वारा संस्कृत बोलने लगे।

(२६)

साधुओं ने उनके साथ धाराप्रवाह रूप में आलंकारिक संस्कृत में संभाषण किया। जिससे वे अत्यन्त आश्चर्यान्वित हुए।

(२७)

वहाँ महान् गणिवर अनेक शास्त्रों का अनुशीलन करते हुए संसार के साथ जुड़े पापों के साथ साथ अज्ञान को भी उन्मूलित करने लगे।

(२८)

चातुर्मास सम्पन्न हुआ। (आचार्यवर के प्रस्थान के कारण) शोक निमग्न लोगों को छोड़कर प्राज्ञवर आचार्यप्रवर ने विहार किया। गाँव-गाँव एवं नगर-नगर में उन्होंने सद्धर्म का प्रतिबोध दिया।

(२६)

चतुर्मासगते काले,
सुजानगढ — पत्तने।
आनन्दं वर्धयामास,
श्रावक — श्राविकाकृते ॥

(३०)

कर्त्तुं यात्रां स्वदेशस्य,
तत्कृते बहुसंबलम्।
विद्यायास्तपसो वाऽपि,
संचिकाय सुशान्तितः ॥

(३१)

श्रावकान् श्रावयामास,
मन्त्रमेकं महोत्तमम्।
आचार्यः परमाराध्यः,
संयमः खलु जीवनम् ॥

(३२)

मासान् दिनसमान् कृत्वा,
ततोऽपि विहरन् सुधीः।
स्थानेषु बहुसंख्येषु,
धर्म — मर्माण्यबोधयत् ॥

(२६)

तब आचार्यवर का सुजानगढ़ में चातुर्मास हुआ। श्रावक-श्राविकायें सब अत्यन्त आनन्दित थे।

(३०)

देश भर में पद-यात्राएँ करने के उद्देश्य से आचार्यवर शान्तिपूर्वक श्रमण-संघ में विद्या और तपस्या की सम्पदा निरन्तर बढ़ाते रहे।

(३१)

परम आराध्य आचार्यवर श्रावक-श्राविकाओं को 'संयम ही जीवन है'—यह महान् मंत्र उपदिष्ट करते रहे।

(३२)

महीनों को दिनों की तरह बिता आचार्यवर ने वहाँ से भी विहार किया। अनेक स्थानों में उन्होंने लोगों को धर्म का रहस्य समझाया।

(३३)

धन्यैरनेकधनिकैः श्रमणांघ्रिलग्नै-
र्मग्नैर्दयामयपथे प्रथितप्रतापे।
युक्ते च डूंगरगढे नगरे प्रशस्ते,
पादार्पणं विहितवान्नवमो गणीन्द्रः॥

(३४)

चतुर्मास — क्रियान्तत्र,
श्लाघितां विदुषां वरैः।
साधुसाध्वीसमेतः स,
पूर्णशः समपद्यत॥

(३५)

आगतेषु पथि प्रायो,
ग्रामेषु कृषकावलिम्।
बोधयामास सत्तत्वं,
मोक्षमार्ग — निदर्शकम्॥

(३६)

ततश्चतुर्मास — विधानहेतो-
र्भक्तैः स्तुतो राजगढे रराज।
अभ्यस्यता तेन विशेषविद्यां,
वाचस्पतित्वं तरसैव लब्धम्॥

(३३)

नवम अधिनायक आचार्यवर ने श्रवणों के चरणों में संलग्न धनियों तथा अहिंसा के पथ में निरत लोगों से युक्त, प्रसिद्ध एवं प्रशस्त श्रीडूंगरगढ़ नामक नगर में पदार्पण किया।

(३४)

वहाँ साधु-साध्वियों सहित आचार्यवर ने विद्वानों द्वारा श्लाघ्य चातुर्मास-विधि परिसम्पन्न की।

(३५)

आगे पथानुक्रम में समागत गांवों में उन्होंने किसानों को सत् तत्व का उपदेश किया, जो मोक्ष-मार्ग का निदर्शक था।

(३६)

तब भक्तिमान् लोगों की अभ्यर्थना पर उन्होंने राजगढ़ में चातुर्मास किया। विशिष्ट विद्याओं के परिशीलन में उनका अभ्यास चालू था ही। फलतः शीघ्र ही वे बृहस्पति के तुल्य विद्या पारगामी हो गये।

(३७)

धारा — प्रवाहोपमभापणेन,
जहार चेतांसि स पण्डितानाम्।
काले समाप्ते कृतवान्विहारं,
गणीश्वरो भैक्षव—संप्रदायी॥

(३८)

धर्मं प्रचारयामास,
ग्रामाद् ग्रामे पुरात्पुरे।
जिज्ञासया समायाते,
संख्यया रहिते नरे॥

(३९)

चतसृभ्योऽपि यद्दिग्भ्यो,
ग्रस्तं रेलपथैरथ।
निर्मितैर्बहु विच्छिद्य,
विशालान्पांशु — पर्वतान्॥

(४०)

पत्तनं तच्चतुर्मास-
हेतो रत्नगढाह्वयम्।
प्राप्तवान् तपसा दीप्तः,
श्रीयुक्तस्तुलसी गणी॥

(३७)

भिक्षु गण के अधिपति आचार्यवर ने अपने धाराप्रवाह भाषण से विद्वानों का चित्त हर लिया। अर्थात् उनकी वक्तृत्व-शक्ति पर विद्वान् मुग्ध थे। अस्तु, चातुर्मास का समय परिसमाप्त कर उन्होंने वहाँ से विहार किया।

(३८)

गांव-गाँव और नगर-नगर में असंख्य मनुष्य जिज्ञासाएँ लिए उनके समीप में आते, जिन्हें वे धर्म का तत्व बताते—इस प्रकार धर्म-प्रसार का एक महनीय क्रम वह था।

(३९-४०)

बालू के विशाल पर्वतों को चीर कर चारों ओर जहाँ रेल की पटरियाँ बिछी हैं, परमतपा, प्रतापी आचार्यवर उस रतनगढ़ नामक नगर में चातुर्मास के लिए पधारे।

(४१)

अनेकैर्भक्ति — सम्पन्नैः,
पूरुषैः परिषेवितः ।
चतुर्मासक्रियां पूर्णां,
निदधावग्रणी — र्गणी ॥

(४१)

अनेक भक्ति - सम्पन्न व्यक्तियों द्वारा परिसेवित, धर्मसंघ के अग्रणी आचार्यप्रवर ने वहाँ अपना चातुर्मासिक प्रवास सम्पन्न किया।

ओम्

अथ षोडशः सर्गः

(१)

विष्णुप्रिया यत्र गिरो गलेऽपि,
निधाय हस्तं भ्रमति स्वतन्त्रा ।
तत्राययौ छापरनामपुर्यां,
गणी चतुर्मासविधिं विधातुम् ॥

(२)

विज्ञैर्जनैर्वा धनिकैर्जनैर्वा,
संस्तूयमानो विदुषां वरिष्ठः ।
कल्याणहेतोर्गृहिणां वराणा-
माध्यात्मिकं संगठनं व्यतानीत् ॥

(३)

महाव्रतानां नियमैर्निबद्धाः,
भवन्ति नाद्धा व्रतिनो विरुद्धाः ।
बन्धं विना गाव इव प्रणष्टाः,
जाता गृहस्था निरता मलेषु ॥

(४)

बन्धो निमित्तं परतन्त्रतायाः,
साऽनुन्नतेर्मूलमिति ब्रुवाणाः ।
काणा धियोऽक्ष्णा न विलोकयन्ति,
न तं विना स्याज्जगतो गतिर्हि ॥

(१)

आचार्यवर चातुर्मास के निमित्त छापर नामक शहर में पधारे, जहाँ विष्णु-प्रिया—लक्ष्मी, गिरा—सरस्वती के गले में हाथ डाल स्वतंत्रता से घूमती हैं अर्थात् जहाँ लक्ष्मी और सरस्वती दोनों आपस का दुराव भूल एक साथ निवास करती हैं।

(२)

विज्ञ जनों ने, धनी जनों ने—सबने आचार्यवर् की स्तवना की। आचार्यवर ने सांसारिक जनों के श्रेयस् के लिए एक आध्यात्मिक संगठन गठित करने की परिकल्पना की।

(३)

महाव्रतों के नियमों में बंधे होने से साधु कभी वैपरीत्य का अवलम्बन नहीं करते। बन्धन के बिना जैसे गायें अभक्ष्य भक्षण में रत हो जाती हैं, उसी प्रकार गृहस्थ दोषों में रत हो जाते हैं।

(४)

बन्धन पारतन्त्र्य का कारण है, वह अवनति का मूल है—यों कहने वाले बुद्धि के काने हैं। उन्हें नहीं सूझता कि नियमों के बन्धन के बिना जगत् चल ही नहीं सकता।

(५)

किं प्रत्यहं प्राग्दिशि नाभ्युदेति,
नास्तं प्रतीच्यां तपनः प्रयाति ।
पक्षद्वये भ्राम्यति किन्न नित्यं,
बद्धः सशङ्को नियमैः शशाङ्कः ॥

(६)

फलन्ति वृक्षा अनुपुष्पपुञ्जं,
फले च पुष्पे च विपर्ययो न ।
स्वतन्त्रतेयं परतन्त्रतेयं,
केयं स्वयं विज्ञवरा विदन्तु ॥

(७)

अथो विलोक्याधुनिकं परीक्षा-
विधिं स्वसंघेऽपि स तं विधातुम् ।
शिक्षाविदां योगमवाप्य पूर्ण,
पाठ्यक्रमं निश्चितवाननन्यम् ॥

(८)

ध्वंसन्नधर्मं वितरन् सुधर्म,
परोपकाराय समस्तपुंसाम् ।
तं छापरस्थं समयं समाप्य,
निद्वारमग्रे कृतवान्मनस्वी ॥

(५)

क्या नियमों में बंधा सूर्य सदा पूर्व दिशा में नहीं उगता, क्या वह पश्चिम दिशा में अस्त नहीं होता ? क्या नियमों में बंधा चन्द्र कृष्ण, शुक्ल—दोनों पक्षों में सदा नहीं घूमता रहता ?

(६)

वृक्षों में पहले फूल आते हैं, उसके बाद वे फलते हैं। फूल व फल की निष्पत्ति में कभी भी विपर्यय नहीं होता। यह स्वातन्त्र्य है या पारतन्त्र्य—विद्वज्जन अपने आप इसे समझें।

(७)

आचार्यवर ने आधुनिक परीक्षा-विधि का अवलोकन कर, शिक्षा-शास्त्रियों का सहयोग ले अपने संघ में अपने ढङ्ग का परिष्कृत परिपूर्ण पाठ्यक्रम निश्चित किया।

(८)

समस्त लोगों के उपकार के लिये अधर्म का ध्वंस तथा धर्म का प्रसार करते हुए मनस्वी आचार्यवर ने छापर चातुर्मास समाप्त कर आगे विहार किया।

(९)

शैलैरसंख्यैः स्थपुटैरगम्यै-
र्दुर्गैः परैर्वालुमयैर्विचित्रैः ।
वृक्षैर्महा – कण्टकिभिर्वदर्याः,
घासैरशेषैः परदेशदक्षैः ॥

(१०)

आगृह्यमाणा कमला वराकी,
परत्र गन्तुं विवशा भवन्ती ।
यत्रैव वासं वितनोति नित्य-
मुपास्यमाना धनिकैरनेकैः ॥

(११)

तदिति सरदारशहरं,
मुख्यं नगरैकमोसवालानाम् ।
कर्तुं माघ – महोत्सव-
मायासीद् गणभृतां वर्यः ॥

(१२)

अन्यैः साधुवरिष्ठै-
र्दूराद् देशाच्च सन्निकृष्टाच्च ।
आयातैः सुविनीतै-
र्वन्दित्वा गणपतिः प्रोक्तः ॥

(६-११)

बालू के बने असंख्य विचित्र, ऊँचे-नीचे, अगम्य पर्वतरूप दुर्गों, झाड़ी के अत्यन्त कँटीले वृक्षों, दूसरों को डसने में निपुण घास—इनसे आगृहीत होने पर—पकड़े जाने पर लक्ष्मी बेचारी अन्यत्र जाने में विवश हो गई अतएव जहाँ के धनियों द्वारा उपासित होकर जहाँ नित्य निवास करने लगी, सरदार शहर नामक ओसवालों (ओसवालों की घनी आबादी) का ऐसा नगर है, गणिवर मर्यादा-महोत्सव सम्पन्न करने वहाँ पधारे।

(१२)

दूरवर्ती तथा समीपवर्ती स्थानों से आये विनीत मुनिवरों ने आचार्यवर को वन्दन कर निवेदित किया—

(१३)

स्वामिन् वयं पयोदाः,
अब्धेस्त्वज्जीवनं वचो नीत्वा ।
वायुर्विरोधि — हता अपि,
वर्षं वर्षं न शान्ताः स्म ॥

(१४)

उप्तं जिनेन बीजं,
धर्मस्य प्राक् कृपासमुद्रेण ।
लुप्तं स्वार्थि — जनानां,
तज्ज्ञानाबग्रहे जाते ॥

(१५)

तव किंकर — संयोगात्,
तस्मिन् बीजे महांकुरा जाताः ।
भूत्वा ततो द्रुमास्ते,
दातारः शिवफलान्येव ॥

(१६)

आचार्यो निजशिष्यान्,
सर्वानलसान् विलोक्य कार्ये स्वे ।
स्वीयैः कृपा — कटाक्षैः,
पूर्णं परितोषयामास ॥

(१३)

"प्रभो! हम मेघ हैं, आप समुद्र हैं, आपसे (जल, आध्यात्मिक जीवितव्य) तुल्य वचन लेकर विरोधीजनरूपी वायु से आहत होते हुए भी हम अनवरत बरसते रहें।

(१४)

दया के समुद्र जिनेन्द्र भगवान् ने पहले जो धर्म का बीज बोया था, स्वार्थी लोगों के बढ़ जाने से ज्ञान का दुर्भिक्ष सा हो चला, जिसमें वह बीज लुप्त हो गया।

(१५)

आपके सेवकों (श्रमणों) का संयोग पा अब बीज में अंकुर फूटने लगे हैं। वे समय पा वृक्ष बन मोक्षरूप फल देंगे।"

(१६)

आचार्यवर ने अपने सब शिष्यों को अपने-अपने कार्यों में अनलस— आलस्य रहित—जागरूक देख, अपने कृपा-कटाक्ष द्वारा सबको परितुष्ट किया।

(१७)

प्रोच्चे चोत्सव — मंचे,
विराजमानो गणी गुणाम्बोधिः ।
मर्यादां मुनिवर्या—
नुच्चैः संश्रावयामास ॥

(१८)

यावद् यूयं संघे,
वसथ न तावत्कदापि गणपाज्ञा ।
उल्लंघ्या कमनीयैः,
प्राप्तुं मुक्ति विनाऽऽयासम् ॥

(१९)

पूर्वं स एव वाच्यो,
मत्तो यो मन्तुना स्वविहितेन ।
पश्चा — न्निवेदनीयं,
गुरवे तत्सर्व — वृत्तान्तम् ॥

(२०)

भ्रष्टैर्गणात् कदाचि—
न्नाश्रयणीया कदाऽपि गुरुनिन्दा ।
पुस्तक — पत्र — प्रभृति,
ग्राह्यं तैर्वस्तु किञ्चिन्न ॥

(१७)

महोत्सव में उच्च पट्ट पर समासीन, गुणों के समुद्र गणिवर ने उच्च स्वर से श्रमण-श्रमणीगण को मर्यादाएँ सुनाईं :—

(१८)

"गण में रहते हुए आप सबको बिना आयास भक्ति-पथ पर बढ़ते रहने के निमित्त गणाधिप की आज्ञा का कभी उल्लंघन नहीं करना है।

(१९)

पहले उससे कहना चाहिए, जो अपने कृत अपराध के प्रति लापरवाह है। वह यदि ध्यान न दे तो वह समग्र वृत्तान्त गुरु को निवेदित करना चाहिये।

(२०)

यदि कोई गण से बाहर हो जाएँ तो उन्हें चाहिए कि वे गण और गणी की निन्दा न करें, पुस्तक, पत्र आदि कुछ भी उपकरण वे अपने साथ न ले जाएं।

[३५३

(२१)

इत्यादिशिक्षां मिलितां गुरुभ्यो,
बद्ध्वाऽञ्जलिं नम्रशिरस्तलेन ।
सुधां सुरेशादिव देववर्याः,
देवोपमाः साधुजना अगृह्णन् ॥

(२२)

आकर्ण्य वाणीं मधुरां गुरूणां,
लोका मिथस्तर्कयितुं प्रलग्नाः ।
पीयूषकुण्डं हृदये किमेषां,
स्वर्गङ्गया वेति पवित्रगात्राः ॥

(२३)

अथो समाप्ते सुमहोत्सवेऽस्मिन्,
सभास्थले राजति विज्ञपुंसाम् ।
संबोध्य भक्तान् पुरुषान्गणीशो,
महोत्तमं वाक्यमिदं बभाषे ॥

(२४)

संस्मर्यतां छापरनामपुर्यां,
कृतो विचारो गृहिणां प्रसङ्गे ।
तेषां कृतेऽणुव्रतसाधनैका,
निबद्ध्यतां कर्मचयक्षयार्थम् ॥

(२१)

इत्यादि रूप में गुरुवर से प्राप्त शिक्षा को साधु-साध्वियों ने हाथ जोड़, शिर झुका उसी प्रकार ग्रहण किया, जिस प्रकार देवगण देवराज इन्द्र से अमृत ग्रहण करते हैं।

(२२)

गुरुवर की मधुर वाणी सुनकर लोग आपस में तर्कणा करने लगे—क्या इनके हृदय में अमृत का कुण्ड है अथवा स्वर्गगंगा से इनका शरीर पवित्र है।

(२३)

यों महोत्सव परिसमाप्त हो गया। एक दिन परिषद् विज्ञ जनों से सुशोभित थी। गणिवर भक्तिमान् पुरुषों को सम्बोधित कर कहने लगे—

(२४)

"याद कीजिये, द्वापर में गृहस्थों के सम्बन्ध में एक विचार चला था कि कर्म-क्षय—आत्म-विकास के निमित्त उनके लिए अणुव्रत-साधना की योजना बनाई जानी चाहिए।

(२५)

महाव्रताना — मतिपूतपोतं,
विशालमारुह्य यथा मुनीशाः ।
तूर्णं तरन्त्युद्धतकर्म — सिन्धुं,
यस्मिन्निमग्ना वहवोऽपि जीवाः ॥

(२६)

अणुव्रतानां लघुनावमेकां,
तथैवमारुह्य गृहस्थलोकाः ।
तरङ्गिणीं कर्मजलप्रपूर्णां,
तरन्तु सन्मार्गनिवद्धबाधाम् ॥

(२७)

अणुव्रतानां प्रबलः प्रचार-
स्ततो विधेयोऽखिलदेशमध्ये ।
असंप्रदायी सुदृढ़स्तदर्थ-
मारोपणीयोऽद्भुत — संघशाखी ॥

(२८)

स्थाप्यास्तदीया नगरेषु शाखाः,
पृथक् पृथक् तत्र महाप्रवन्धः ।
ग्राह्यः स्वहस्तेषु गृहस्थवर्यै-
स्तासां वटद्रोरिव विस्तृतानाम् ॥

(२५-२६)

जैसे मुनिगण महाव्रतों के अत्यन्त पवित्र जहाज पर आरूढ़ होकर, उस प्रचण्ड कर्म-समुद्र को, जिसमें बहुत से जीव डूबे जा रहे हैं, शीघ्र ही पार कर जाते हैं, उसी तरह अणुव्रतों की छोटी नौका पर आरूढ़ हो गृहीजन सत्पथगमन में बाधा उत्पन्न करनेवाली, कर्मरूपी जल से परिपूर्ण सरिता को पार करें।

(२७)

समस्त देश में अणुव्रतों का प्रबल प्रसार करना है। उसके लिये एक ऐसा संघरूपी वृक्ष आरोपित किया जाना चाहिए, जो असाम्प्रदायिक हो, अतएव सुदृढ़ हो।

(२८)

नगर-नगर में उस आध्यात्मिक अभियान की शाखाएं अपेक्षित हैं। बरगद के वृक्ष की तरह फैलती हुई उन शाखाओं की व्यवस्था गृहस्थों के अपने हाथ में होगी।

(२६)

अनैतिके कर्मणि दत्तचित्ताः,
नान्यायतो बिभ्यति केऽपि लोकाः।
तस्यैव हेतो रघुना धरण्यां,
युद्धं प्रवृद्धं प्रलयं विधित्सु ॥

(३०)

बुध्या यया बुद्धिमतां वरिष्ठा-
स्ततुं समर्था गहनं भवाब्धिम्।
स्वयं तया तत्र निमज्य नीचाः,
परान् वराकानपि मज्जयन्ति ॥

(३१)

वैज्ञानिकः कोऽपि जगत्समस्तं,
क्षणेन विध्वंसयितुं चकार।
बमाह्वयास्त्राण्यणु — निर्मितानि,
येषां प्रयोगः प्रलयं करोति ॥

(३२)

अणुव्रतान्येव — मणूद्भवानां,
बमास्त्रकाणां विलयं विधातुम्।
मन्त्रा भविष्यन्ति नितान्तसिद्धाः,
क्षणं विरामोऽपि ततोऽत्र हेयः ॥

(२६)

आज लोग अनैतिक कार्यों में संलग्न हैं। वे अन्याय से नहीं डरते। यही कारण है, आज भूमण्डल पर प्रलयंकर युद्ध की स्थिति बनती जा रही है।

(३०)

बुद्धिमान् मनुष्य जिस बुद्धि द्वारा गहन संसार-सागर को पार करने का सामर्थ्य रखते हैं, उसी बुद्धि से वे स्वयं उसमें डूबे जा रहे हैं तथा दूसरे अज्ञ जनों को डुबो रहे हैं।

(३१)

किसी-किसी वैज्ञानिक ने तो अणु-निष्पन्न ऐसे-ऐसे बमों का निर्माण किया है, जिनका प्रयोग क्षण भर में जगत् का विध्वंसकर प्रलय मचा सकता है।

(३२)

अणु-निष्पन्न जनों का विलय करने में अणुव्रत ही अत्यन्त सिद्ध मन्त्र साबित होंगे। अतः अब जरा भी प्रतीक्षा की आवश्यकता नहीं है। अर्थात् शीघ्रातिशीघ्र अणुव्रतों का व्यापक प्रसार होना चाहिए।

(३३)

अणुव्रतानां नियमैः पवित्रैः,
शास्त्रा विरुद्धैरिव सिद्धमन्त्रैः।
निर्द्धारणीयैः सकलैर्मिलित्वा,
भविष्यति प्राकृतविश्वशान्तिः॥

(३४)

अणुव्रतान्तःस्थितया मनुष्यै-
रहिंसया जेतुमजेययुद्धम्।
त्यागो विधेयोऽनृतभाषणस्य,
हिंसाप्रियं तथ्यविरोध्यसत्यम्॥

(३५)

मार्जन्नमायं व्यवसायकार्यं,
स्वच्छाम्बुना सत्यसरः — स्थितेन।
स्वल्पेन तुष्टो भविताऽतिशीघ्रं,
व्यापारिवर्गः सुलभापवर्गः॥

(३६)

दुग्धे घृते भक्ष्यविशेषके वा,
तथौषधादौ पर — हेयवस्तु।
न मिश्रयिष्यन्ति धनार्जनाय,
कृतप्रणाः सम्यगणुव्रतानाम्॥

(३३)

अणुव्रतों के नियम जो शास्त्र-अविरुद्ध—शास्त्रानुमोदित हैं, जो साधे गये मंत्रों के तुल्य हैं, यदि सब लोग मिलकर अपना लें तो सहज ही विश्व में शान्ति हो जाए।

(३४)

अणुव्रतों के अन्तराल में स्थित अहिंसा द्वारा दुर्जय युद्ध को जीतने के लिए यह आवश्यक है कि असत्य भाषण का भी त्याग किया जाए। क्योंकि असत्य हिंसा प्रिय और यथार्थ्य-विरोधी होता है।

(३५)

यदि व्यापारी गण अपने छल-कपट रहित व्यापार के शरीर का सत्यरूपी सरोवर के स्वच्छ जल से प्रमार्जन करेंगे तो उनमें शीघ्र ही स्वल्प में सन्तोष पाने की वृत्ति जागेगी और अपवर्ग—मोक्ष-मार्ग का अनुसरण भी उनके लिए सुलभ होगा।

(३६)

जिन्होंने अणुव्रत के नियम ले लिये हैं, वे दूध, घृत, खाद्य-पदार्थ तथा औषधि आदि में धन के लोभ से अन्य हेय पदार्थों का मिश्रण नहीं करेंगे।

[३६१

(३७)

धनं धरित्री सुभगा परस्त्री,
भवन्ति युद्धस्य सुसाधनानि ।
अणुव्रती तत्र करोति शुद्धिं,
संभावना तेन न चाहवस्य ॥

(३८)

वरैर्गृहस्थैः प्रणिबद्धहस्तैः,
कृत्वा प्रणामं भगवत्पदेषु ।
अंगीकृताणुव्रतसंघ — वार्ता,
नार्ता यतः स्याज्जनता समस्ता ॥

(३६)

मासैकवासादधिकं कुहापि,
सन्तो वसन्तो नियमं त्यजन्ति ।
अतोऽग्रमार्गानपि पादपद्मै-
र्गणीश्वरो मार्ष्टुमना व्यहार्षीत् ॥

(४०)

मार्गश्रमस्यातिशयेन गाढं,
सोढा स ढुंढारभुवं डुढौके ।
सुस्वागतं स्वादु चकार तस्य,
ग्रामेषु जाता जनता नताऽग्रौ ॥

---

(३७)

धन, पृथ्वी, दूसरे की सुन्दर स्त्री—ये युद्ध के साधन हैं। अणुव्रती इन सब में शुद्ध रहता है—विकार-ग्रस्त नहीं होता। यही कारण है कि वहाँ कलह—कदाग्रह की कोई आशंका नहीं रहती।

(३८)

मानवता क्लेश से छूटे, यह अभिप्रेत लिए अनेक सत्चेता गृहस्थों ने आचार्यवर के चरणों में प्रणाम कर हाथ जोड़ अणुव्रती संघ (अणुव्रत-आन्दोलन) के नियम स्वीकार किये।

(३९)

यदि साधु (विना अनिवार्य कारण के) कहीं एक मास से अधिक ठहरते हैं, तो इस साधु-आचार-संहिता के नियमों का उल्लंघन होता है। अतः गणिवर ने आगे के मार्ग को अपने चरण-कमलों से पवित्र करने की इच्छा से वहाँ से विहार किया।

(४०)

मार्ग-श्रम को दृढ़ता से सहनेवाले आचार्यवर ढूंढाड़ प्रदेश में पधारे। गाँव-गाँव में जनता उनके चरण में अभिनत थी, उनका हृदय से स्वागत किया।

ओम्

अथ सप्तदश: सर्गः

(१)

अथो शेखावाट्याः पुरमुपपुरं ग्राममथवा,
स्वकीयैर्निर्ग्रन्थैः सह विचरता पूज्यगणिना।
समागामि श्रेष्ठा नृपतिवसतिः सीकरपुरी,
यदीयं कल्याणं व्यधित कृतिकल्याणमहिपः॥

(२)

स्वयं रावो राजा स्वगतमतितः स्वागतमथो,
महर्षेर्हर्षेण प्रकटविभवः संविहितवान्।
पवित्रं पादाब्जैरकृत गणपो राजसदनं,
महिष्यः संहृष्य प्रणतशिरसाऽवन्दिषत तम्॥

(३)

चतुर्मासानग्रान् गमयितुमना मान्यमुनिपः,
पदैः स्वच्छीकुर्वन् समविषमढुंढारधरणीम्।
समस्तैः स्वैः शिष्यैःसपदि सहितो विश्वविदितो,
गणीशो वाणीशो जयपुरमभिप्रास्थित ततः॥

(४)

प्रविश्यान्तर्वंशं मरुति वरवंशीं निनदति,
विसंश्रुम्यच्छाखे — विटविटपिभिर्नृत्यनिरतैः।
मनोनीतैः शुद्धैः सुरभितसुमैर्मन्दहसितैः,
विविक्तैरुद्यानैः सततसदृशैर्नन्दनवनैः॥

(१)

इसके अनन्तर आचार्यवर अपने श्रमण-सहित शेखावाटी के शहर, कस्बे और गाँवों में पर्यटन करते हुए शेखावाटी की राजधानी सीकर नामक श्रेष्ठ नगर में पधारे, जिसका (सीकर का) कल्याण—अभ्युन्नति कृतित्वशील राजा कल्याण सिंह जी (अपने शासन काल में) करते रहे थे।

(२)

वैभवशाली राव राजा कल्याणसिंह जी ने हार्दिक उल्लास रूप से आचार्य प्रवर का स्वागत किया। उनके निवेदन पर आचार्य प्रवर ने राजभवन को अपने चरण-कमलों से पवित्र किया। पटरानियों ने अत्यन्त प्रसन्नता से शिर झुकाये उन्हें वन्दन किया।

(३)

विश्व विख्यात, वाणी के अधीश्वर, सम्मान्य गणाधिपति आचार्यवर ने अपने शिष्यों सहित कहीं समतल और कहीं ऊँची-नीची ढूँढाड़-भूमि को पवित्र करते हुए अग्रिम चातुर्मासिक प्रवास के लिए जयपुर की ओर प्रस्थान किया।

(४)

जहाँ बाँसों के छिद्रों में प्रवेश कर वायु सुन्दर वंशी बजा रहा है, जिनकी शाखाएँ वायु का संसर्ग पा संक्षुब्ध—चलायमान है, ऐसे वृक्षरूपी विट—नट जहाँ नृत्य करने में लगे हैं, स्वयं विकसित, सुरभित पुष्पों के मिष से जो मन्द हास्य कर रहे हैं—नन्दन वन के तुल्य ऐसे पृथक्-पृथक् उद्यान जिस नगर में हैं।

(५)

चमत्कृत्यैः काचैर्विरचितकुटीकुट्टिमतलै-
र्विचित्रैर्वा चित्रैः खचितलषितैरट्टविकटैः ।
वरद्वारालिन्दैर्वितत — बहुवातायनयुतैः,
स्पृशद्भिर्दैवौको विविधभवनैर्निर्मितसमैः ॥

(६)

ज्वलद्विद्युद्दीपैरभिगतसमीपैः सितविभैः,
समाक्रान्ताऽनल्पप्रथित — चतुरङ्गापणपथैः ।
निषिक्तैः पानीयैरनवरतधौतैरकुटिलै-
र्मिथो रथ्यासार्थैः सविधि मिलितैर्दूरतरगैः ॥

(७)

समेते व्यापारप्रथमसदने भूरिविभवे,
महाविद्यागारे विविधविबुधैरर्पितपदे ।
नृपाणां जातानां विनिहितशिरःकीर्तिकलशे,
समायादाचार्यो जयपुरपुरे पूज्यतुलसीः ॥

(८)

अनेकैः सच्छास्त्रैः सहगुरुजनो दर्शनकृते,
पिता पुत्रीपुत्रैरभिनववधूभिर्वरगणः ।
पिबद्भिस्स्तन्यानि प्रियशिशुजैर्मातृजनता,
तदा तत्रापप्तद्विहग इव वृक्षे फलकृते ॥

(५-७)

जहाँ के भवन बनावट में एक जैसे हैं, जिन के कमरों का आँगन चमकते हुए काच का बना है, जिनकी भित्तियाँ विचित्र एवं सुसज्ज चित्रों से शोभित हैं, जिनके द्वार और देहलियाँ सुघड़ रूप में बने हैं, जिनमें बड़े-बड़े गवाक्ष—झरोखे हैं, जो आकाश को मानो छू रहे हैं।

जिसमें एक दूसरे के आस-पास उज्ज्वल ज्योतिवाले बिजली के दीपक (बल्ब) लगे हैं, जिसके बाजारों में लम्बे-चौड़े चौराहोंवाले मार्ग बने हैं, अन-वरत छिड़के जाते पानी से जो (मार्ग) धोये जाते हैं, जो बिल्कुल सीधे हैं, दूर दूर पर उपयुक्त रूप में जो गलियों से मिलते जाते हैं।

जो व्यावर का मुख्य केन्द्र है, अत्यन्त वैभवमय है, जो विद्या का महान् समुद्र है, जहाँ अनेक विद्वान् निवास करते हैं, जिसके अतीत कालीन राजाओं के मस्तक पर यश का कलश रखा है—ऐसे जयपुर नगर में आचार्यवर पधारे।

(८)

वहाँ आचार्यवर के दर्शन के लिए अनेक विद्वान् अपने विद्यार्थियों के साथ, पिता अपने पुत्रों व पुत्रियों के साथ, वर अपनी नवोढा वधुओं के साथ, मातायें अपने दुधमुंहे बच्चों को गोद में लिए हुए—सब इस प्रकार उमड़ पड़े, जिस प्रकार पक्षी फलों के लिए वृक्ष पर टूट पड़ते हैं।

(९)

विदूराद् आयातं मलिनवसनं यानरहितं,
पथि स्वेदक्लिन्नं मुनिमभिमुखं पृष्ठविमुखम्।
द्रुतं धावद्धावत्कृषकजन — वृन्दं प्रमुदित-
मगृह्णद् गण्यंघ्रि जयतु तुलसीरित्यनुवदन् ॥

(१०)

गजानुष्ट्रानश्वान् पवनगतिमन्मोटररथान्,
समारुह्यानेके प्रकृतिपरुषा राजपुरुषाः।
कुबेरं निन्दन्तः सहजसरलाः केऽपि वणिजः,
प्रणेमुः पादाब्जं मुनिजननुतं पूज्यगणिनः ॥

(११)

रथं रोद्धुं कश्चिद् गगनपथगस्यापि रजसा,
सहस्रांसोरुर्व्यां परिततत मिस्रं प्रहरतः।
प्रयेते स्वार्थान्धः प्रकृतिकुटिलः स्वप्रकृतितो,
विरोधं कुर्वाणः प्रवरगुणिनः पूज्यगणिनः ॥

(१२)

स्तुतौ निन्दायां चाविकृतसमदृष्टिं निदधता,
विधायोच्चैर्हस्तं नियतजयशब्दं निगदता।
समूहोऽसंख्यानां बहुविधनृणां पूरितरवः,
कृतोऽशान्तः शान्तः स्मितवदनकञ्जेन सहसा ॥

(९)

दूर से आए हुए मैले कुचैले वस्त्रोंवाले, सवारी रहित मार्ग में पैदल चलने के कारण आये पसीने से प्रक्लित, श्रमणपति के सामने मुख किए हुए, पीछे न देखते हुए, वेग पूर्वक दौड़ते हुए, 'श्री तुलसी की जय' यों बोलते हुए, अत्यन्त प्रसन्नता अनुभव करते हुए किसानों ने आचार्यवर के चरण पकड़ लिए।

(१०)

हाथियों, ऊँटों, घोड़ों और वायुवेग से चलनेवाली मोटर गाड़ियों पर सवार होकर अनेक रोबीले राजपुरुषों तथा अपने वैभव से कुबेर को भी मात करनेवाले, स्वभाव से सरल व्यापारियों ने मुनि-गण द्वारा प्रणमित गणिवर के चरण-कमलों में प्रणाम किया।

(११)

स्वभाव से ही कुटिल, स्वार्थ में अन्धे बने किसी एक ने आचार्यवर का विरोध भी किया। ऐसा लगता था—सहस्रों किरणोंवाले, पृथ्वी में चारों ओर व्याप्त अंधकार को ध्वस्त करनेवाले गगनचारी, सूर्य के रथ को मानों कोई बालू झोंक रोकना चाहता है।

(१२)

अनेक स्थानों के असंख्य लोग आचार्यवर की जय बोल रहे थे, कुछ एक लोगों द्वारा किये जाते विरोध से क्षुब्ध थे। आचार्यवर स्तुति और निन्दा—दोनों में जिनकी निर्विकार और समान दृष्टि रहती है, ने अपना हाथ ऊँचा कर, भगवान् महावीर की जय बोल, अपने शान्त व मुस्कराते मुख-कमल से सारा कोलाहल शान्त कर दिया।

[[illegible]

(१३)

सभां लक्षीकृत्य प्रमुदितमनाः शुद्धहृदयो,
बभाषे भो सभ्याः! शृणुत वचनं मामकमिदम्।
कृतेऽस्माकं पाच्यं न हि निजगृहे भोजनमथ,
न भृङ्गायाम्भोजं रचयति रसं पुष्पनिकरे॥

(१४)

सदा धार्यो धर्म्मो विमलमणिमालेव हृदये,
न च स्पृश्यं पापं भुजग इव दूरादपि करैः।
रसो वाचां साधोरमृतमिव पेयः प्रतिदिनं,
स धूर्तानां पुंसां विष इव निपात्यः क्षितितले॥

(१५)

अथाचार्योऽध्यात्मप्रगतिगतिहेतोः श्रममतिः,
व्यधात्तस्मात्तस्यां बहुसफलता प्रादुरभवत्।
तया सार्धं किन्तु द्विगुणितविरोधः समजनि,
कृषौ वृष्टौ सत्यामधमकरकाऽपि प्रपतति॥

(१६)

प्रसंगे दीक्षायाः पतितपुरुषैर्भ्रष्टमतिभि-
र्विरोधो मात्सर्यात् प्रबलबलतस्तत्र जनितः।
नवं राजस्थानं नव नव महाशासकजनाः,
स्वकीयायां मुष्टौ सपदि निहितास्तैश्छलबलात्॥

(१३)

सभा को लक्षित कर शुद्धचेता, आह्लादितमना आचार्यवर ने अपने प्रवचन के मध्य कहा—"नागरिको ! मेरा कहना सुनें। हमारे लिए अपने घर में कोई भोजन न पकाए। भौंरे के लिए कमल पुष्पों में रस नहीं बनाता।

(१४)

उज्ज्वल मणियों की माला की तरह धर्म को सदैव हृदय में धारण करें, पाप को सांप की तरह दूर से भी न छूएं, सत्पुरुषों की वाणी का रस प्रतिदिन पीते रहें, धूर्त व्यक्तियों की वाणी का रस (जो कलुपित होता है) विप की तरह पृथ्वी पर फेंक दें।

(१५)

आचार्यवर ने वहाँ अध्यात्म के अभ्युदय के लिए अत्यन्त श्रम—प्रयास किया, जिसमें उन्हें बहुत सफलता मिली। पर साथ-साथ (कतिपय लोगों की ओर से) दुगुना विरोध भी हुआ। जैसे कभी-कभी वर्षा के साथ-साथ खेत में अधम ओले भी तो गिरते हैं।

(१६)

दीक्षा का प्रसंग आया। कतिपय विकृत मतिवाले, हेय जनों ने ईर्ष्यावश बहुत जोर-शोर से विरोध किया। नया राजस्थान बना था। नये-नये शासक जन थे। विरोधियों ने छल से उन्हें अपनी मुट्ठी में कर लिया।

(१७)

प्रहृष्टस्तैः स्वप्नो विविधविधिरुद्धां न तुलसी-
गणी कर्तुं शक्तः स्वजननवदीक्षां कुहचन।
तदर्थं साहाय्यं नृपदलगतं सञ्चितमपि,
गतं व्यर्थं सर्वं नवमगणिभाग्येन महता ॥

(१८)

दिवाभर्तुर्यावज्जगति पुरुपानाहुरुदयं,
पृथिव्यां खद्योतो विलसतुतरां तावदनिशम्।
न यावत्पश्चास्यो वनभुवि गतो जागरितवान्,
विकुर्वश्चीत्कारं मदयति च तावद्गजगणः ॥

(१९)

बिभर्तीदानीं यो भरतभुवि सद्राष्ट्रपतितां,
स्वभावो यस्यास्ति प्रकृतिसरलो देवसदृशः।
स राजेन्द्रो बाबूरिह पुरि तदा दर्शनकृते,
समायातोऽपश्यन्मुनिपतुलसी — पादयुगयोः ॥

(२०)

प्रसन्नः संजातो नियमनिहिताणुव्रतकथां,
समाकर्ण्य प्राज्ञो मुनिवरमुखादेव रुचिराम्।
प्रचारः कार्योऽस्या गुणिगणनुतः सोऽकथयत,
व्रतेनानेन स्यादणुबमविनाशः सहजतः ॥

(१७)

उन्होंने यह स्वप्न देखा था कि अनेक प्रकार से दीक्षा को रोक देंगे, आचार्य तुलसी नव दीक्षार्थियों को कहीं भी दीक्षा नहीं दे सकेंगे। उन्होंने इसमें राजकीय दल का सहयोग भी संचित कर लिया था। पर नवम आचार्य श्री तुलसी के प्रताप से वह सब व्यर्थ हो गया।

(१८)

लोग कहते थे—जब तक पृथ्वी में सूर्य का उदय नहीं होता, निरन्तर जुगनू चमकते रहें, जब तक सिंह वन में नहीं जागता, हाथी चिघाड़ते हुए अपना मद दिखलाते रहें। पर सूर्य के उगने और सिंह के जागने पर क्या यह सब रहता है ?

(१९)

इस समय जो भारत के राष्ट्रपति हैं, जिनका स्वभाव अत्यन्त सरल और देवतुल्य है, वे श्री राजेन्द्र बाबू तब आचार्यवर के दर्शन के लिए जयपुर आये, आचार्यवर के चरणों में वन्दन किया।

(२०)

आचार्यवर के मुख से अणुव्रत नियमों को रुचिपूर्वक सुन, गुणीजन द्वारा सत्कृत प्राज्ञवर श्री राजेन्द्र बाबू ने कहा कि इनका प्रचार किया जाना चाहिए। इन व्रतों से सहज ही अणुबम की विभीषिका दूर हो सकती है।

(२१)

नारायणान्तोऽपि जयप्रकाशो,
विद्याम्बुधिस्तत्र समाजवादी ।
आहारवस्त्रादि — मुनिप्रबन्धं,
विलोकयामास समासरीत्या ॥

(२२)

तेनोदितं यं सुसमाजवादं,
कांक्षामहे सोऽत्र समूर्त्त एव ।
धर्मप्रियोऽपि प्रकृतिप्रकृष्टः,
आकर्षितोऽभूद् गणिसाहसेन ॥

(२३)

राष्ट्र — स्वयंसेवकसंघचालको,
गोल्वेल्करो माधवतः सदाशिवः ।
समागतः सोऽपि गणीन्द्रदर्शनं,
कृत्वा प्रसन्नोऽभवदेव भूरिशः ॥

(२४)

आचार्यवर्ये सुविराजमाने,
सम्मेलने संस्कृतभाषकाणाम् ।
विद्वज्जनानां कविपुङ्गवानां,
साहित्यशास्त्राम्बुधि – पारगानाम् ॥

(२५)

प्राक् तत्र सर्वप्रियया मनोज्ञया,
गणीश्वरः संस्कृतयैव भाषया ।
विशुद्ध — शब्दावलियुक्तमात्रया,
चिरादभाषिष्ट विशिष्टरूपतः ॥

(२१)

विद्वद्वर समाजवादी नेता श्री जयप्रकाशनारायण भी आचार्यवर के सान्निध्य में आये। उन्होंने संक्षेप में मुनियों की आहार-चर्या, वस्त्र-उपयोग तथा अन्य सभी व्यवस्थाएँ देखीं।

(२२)

उन्होंने कहा—"हम जिस समाजवाद को चाहते हैं, वह तो यहाँ मूर्तिमान् है।" धर्म में विशेष अभिरुचि न लेनेवाले भी सौम्यप्रकृति श्री जयप्रकाश-नारायण आचार्यवर के कार्यों की ओर आकर्षित हुए।

(२३)

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के चालक श्री माधव सदाशिव गोलवलकर भी आचार्यवर के दर्शन कर अत्यन्त प्रसन्न हुए।

(२४-२५)

आचार्यवर के सान्निध्य में संस्कृतभाषी, कविपुंगव, साहित्यशास्त्र रूपी समुद्र के पारगामी विद्वानों का एक सम्मेलन आयोजित हुआ, जिसमें आचार्यवर ने सर्वप्रिय, रुचिकर, विशुद्ध शब्दावली में युक्त संस्कृत भाषा में लम्बे समय तक विशेषरूप से प्रवचन किया।

(२६)

प्राफुल्लिषुर्विज्ञ — हृदम्बुजानि,
गणीशतत्संस्कृत — भाषणार्कात् ।
विद्वान् हि वेत्ता विदुषो गुणानां,
न वेत्ति वन्ध्या प्रसवस्य पीडाम् ॥

(२७)

धाराप्रवाहेण मुनीन्द्रशिष्याः,
परैः प्रसंगे परिदीयमाने ।
चक्रुः स्वकीयाशुकवित्वमाशु,
पुनर्भवन्तः कविकालिदासाः ॥

(२८)

"स्याद्राष्ट्रभाषा कथमेव संस्कृतं",
मह्यं प्रदत्तो विषयो बुधैरयम् ।
मयाऽप्यरुद्धा कविताऽशु निर्मिता,
प्राभ्रामयन् स्वीयशिरांसि पण्डिताः ॥

(२६)

गणिवर के उस संस्कृत-भाषण रूपी सूर्य से विद्वानों के हृदयरूपी कमल प्रफुल्लित हो गये। विद्वान् ही विद्वान् के गुण को जानता है। वन्ध्या प्रसव की पीड़ा को क्या जानें।

(२७)

दूसरे विद्वानों द्वारा दिये गये विषयों पर आचार्यवर के शिष्य श्रमणों ने तत्क्षण धाराप्रवाह रूप में आशु कविताएँ कीं। ऐसा लगता था—मानो अनेक अभिनव कालिदास हों।

(२८)

"संस्कृत राष्ट्रभाषा कैसे हो"—विद्वानों ने यह विषय मुझे दिया। मैंने भी अनिरुद्ध रूप में तत्क्षण आशु कविता की। जिस पर विद्वानों ने शिर डुला-डुलाकर अपनी प्रसन्नता प्रकट की।

(२९)

अथ गिरधरः शर्मा विद्वज्जनैर्बहुपूजितो,
गणिगुणगणं श्रुत्वाऽकस्मात् समागतवान्बुधः।
मुनिजनगते धर्मे चर्यां विधाय यथाविधि,
मनसि बहुशो हृष्टो जातो विनाऽखिलसंशयम् ॥

(३०)

सरलमतिशः शाब्दं शास्त्रं महाद्भुतभैक्षवं,
नवमिति गणे विद्वद्वर्यैर्विचार्य विनिर्मितम्।
क्रममनुपठन्साश्चर्यः सोऽवदन्मुनिपुंगवं,
कथमिति खनेः श्रेष्ठं रत्नं बहिर्न समागतम् ॥

(३१)

मुनिवरकृतं विद्याभ्यासं स्वकण्ठसमाश्रितं,
लषितललितं साहित्यं व्याकृतिश्च सदर्शनाम्।
बहुविधतया दर्शं दर्शं परीक्षकसत्तमः,
समजनि मुदा वैलक्षण्यप्रभावविभावितः ॥

(३२)

निशम्य व्याख्यानं मधुरमधमानामपि हितं,
निमग्ना हर्षाब्धौ जयपुरजनाः पूज्यगणिनः।
चतुर्मासान्पूर्णाननवरतभक्ताः सुगुणिनो,
विलोक्यैवात्यन्तामकृषत च चिन्तामनुपदम् ॥

(२९)

आचार्यवर के गुण सुन एक दिन अकस्मात् विद्वानों द्वारा बहुमानित, ख्यातनामा विद्वान् महामहोपाध्याय पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी आये। मुनियों के धर्म, आचार आदि के सम्बन्ध में आचार्यवर से वार्तालाप कर वे बहुत प्रसन्न हुए, उन्हें कोई संशय नहीं रहा।

(३०)

श्री गिरिधर शर्मा जी अत्यन्त सरल, अद्भुत, विद्वानों द्वारा विचारपूर्वक नये रूप में निर्मित श्री भिक्षु शब्दानुशासन नामक संस्कृत व्याकरण देखकर आश्चर्यान्वित हो कहने लगे—"यह श्रेष्ठ रत्न खान से बाहर कैसे नहीं आया ?"

(३१)

मुनिजनों का कण्ठस्थ विद्याभ्यास, साहित्य, व्याकरण, दर्शन आदि का विशेष अध्ययन—यह सब उन्होंने परीक्षक की दृष्टि से सम्यक्तया देखा, इन सब में उनकी विलक्षणता पा वे बहुत प्रसन्न एवं प्रभावित हुए।

(३२)

जयपुर के भक्तिमान्, गुणवान् नागरिक जन गणिवर के प्रवचन, जो अधम व्यक्तियों का भी हित करनेवाले हैं, सुनते हुए हर्ष के सागर में निमग्न थे। पर चातुर्मास पूरा हुआ जान वे अत्यन्त चिन्तित हो गये।

(३३)

विहारं स्वं हारं जिननियमबद्धं वरमयं,
गले धार्यं मत्वा विहृतिकृतये यत्नमकृत ।
करायातं रत्नं गतमिव विदित्वा हि विदुराः,
प्रणम्याचार्याङ्घ्रीन् न्यगदिषुरनेके सुमतयः ॥

(३४)

वशिष्ठः शिष्टोऽपि प्रहृतमपि गोरत्नमपरै-
र्न सेहे किन्त्वेषा व्रजति गृहतः स्वेन मनसा ।
सकामायां धेनौ कथमिव गतायां स्वशरणं,
पयः पीतं यस्या वितरति मनोवाञ्छितफलम् ॥

(३५)

वियोगः संयोगो जगति भवतोऽनादिसमयात्,
तयोः का चिन्ता स्यादितिवचनतः सर्वपुरुषान् ।
परं सन्तोष्याग्रे समुनिगणनाथो विहृतवान्,
पुरे टोंके पुम्भ्यः पथि परिगतो दर्शनमदात् ॥

(३६)

नवीनो नारीणां भवति विविधः शिक्षणविधि-
र्निराबाधं यस्या बहुविततविद्यालयगतः ।
वनस्थल्यां तस्यामविशत ततो भैक्षवगणी,
न हीना यद्दृष्टिर्लषति पुरुषार्धेऽपि वपुषि ॥

(३३)

आर्हत-परम्परानुमोदित विहार को अपने गले का हार जान आचार्यवर ने तदर्थ यत्न किया। विज्ञ जनों ने जब देखा, हाथ में आया रत्न चला जा रहा है तो वे आचार्यवर के चरण-कमलों में प्रणाम कर निवेदन करने लगे —

(३४)

"शिष्ट होते हुए भी श्री वशिष्ठ कामधेनुरूपी रत्न का दूसरों द्वारा हरण किया जाना नहीं सह सके, पर आज वह कामधेनु रूपी रत्न हमारे घर से स्वयं जा रहा है। जिसका हमने दूध पिया, जो हमें मन-वाँछित फल देती रही है उस कामधेनु के चले जाने पर हम किसकी शरण में जायेंगे।"

(३५)

"जगत् में संयोग और वियोग अनादि काल से चले आ रहे हैं, उन्हें लेकर चिन्ता नहीं करनी चाहिए" यों कह आचार्यवर ने सभी लोगों को सन्तुष्ट किया और मुनियों सहित वे विहार कर गये। मार्ग में टोंक नामक नगर आया जहाँ उन्होंने लोगों को दर्शन-लाभ दिया।

(३६)

जिसके अत्यन्त विशाल विद्यालयों में कन्याओं का नवीन शिक्षण विधि के अनुरूप निर्बाध शिक्षण चलता रहता है, आचार्यवर वनस्थली नामक उस कन्या-विद्यापीठ में पधारे। पुरुष के अर्धाङ्ग—नारियों को आचार्यवर हीन दृष्टि से नहीं देखते। वे स्त्री-पुरुष-दोनों को समान दृष्टि से देखते हैं।

(३७)

महादुर्गे प्राच्ये नृपतिहठिहम्मीरविहिते,
प्रसिद्धे सर्वस्मिञ्जगति रणथम्भोरकथनात् ।
ततोऽल्पानां पुंसामुपरि वसतां गर्वितगिरे-
र्हृदां शुद्धिं कर्त्तुं सुरवरसमो दर्शनमदात् ॥

(३८)

सवाईं स्वोपाधिं धरति शिरसा माधवपुरे,
समस्तैः सद्भक्तैः पदकमलयुग्मेषु पतितैः ।
स्तुतो वारं वारं मुदितमनसा प्राप तरसा,
महात्मानो भक्त्या ददति सुफलं सिक्ततरुवत् ॥

(३९)

विधातुं मर्यादाविधिविहितमाघोत्सवमथ,
दयाम्भोधिः स्वामी जयपुरजनैर्भूरिविनतः ।
पुरे तेषां पश्चादपि गत इतो हृष्टहृदयो,
पुनः पश्चाद्देशे क्षिपति निजदृष्टिं मृगनृपः ॥

(४०)

मर्यादा मुनिवर्यभिक्षुरचिता या श्राविता संसदि,
बद्ध्वा हस्तयुगं विनम्रशिरसा साऽङ्गीकृता साधुभिः ।
आसद्ग्रामनिवासकादुपवनाज्जाता महोपस्थितिः,
सर्वेषाञ्च सतीसतां गुणवतां श्रीपूज्यपादाश्रये ॥

---

(३७)

आचार्यवर इतिहास प्रसिद्ध हठी महाराज हम्मीर द्वारा निर्मापित सुप्रसिद्ध रणथंभौर के विशाल दुर्ग में, वहाँ गर्वीले पर्वत पर थोड़ी सी संख्या में रहने वाले लोगों की हृदय-शुद्धि का अभिप्रेत लिए पधारे, उन्हें दर्शन दिया।

३८)

भक्तिमान् लोगों ने चरण-कमलों में नत हो, सवाई माधोपुर पधारने की प्रार्थना की, जिस पर आचार्यवर शीघ्र वहाँ पधारे। महात्मा-गण लगन के साथ सींचे गये वृक्ष की तरह फल देते हैं।

(३९)

जयपुरवासियों द्वारा बार-बार प्रार्थना किये जाने पर कृपा के सागर आचार्यवर मर्यादा महोत्सव करने वापिस प्रसन्नता पूर्वक जयपुर पधारे। क्योंकि मृगराज-सिंह आगे चलने का उपक्रम कर पीछे की ओर अपनी दृष्टि फेंकता ही है।

(४०)

आचार्यवर ने तेरापंथ के आद्यप्रवर्तक आचार्य श्री भिक्षु द्वारा रचित मर्यादाएं परिषद् में सुनाईं। साधुओं ने हाथ जोड़, शिर झुका उन्हें स्वीकार किया। गणिवर के चरणों में सभी साधु-साध्वियों की रामनिवास बाग में पूर्णतः प्रस्तुत बड़ी हाजरी-श्रमण-श्रमणियों द्वारा खड़े होकर मर्यादाओं का सामूहिक स्वीकरण सुन्दर रूप में सम्पन्न हुआ।

ओम्

अथ अष्टादशः सर्गः

(१)

अथ जयपुरतोऽयं मान्यवर्यो मनस्वी,
द्रुतमकृत विहारं सर्वतन्त्रस्वतन्त्रः।
रसयति मधुपो यन्नैकपद्मं कुहापि,
मुनिरपि परमार्थी भिक्षते नैकगेहम् ॥

(२)

पथिगतबहुसंख्या — न्ग्रामलोकानजिह्मा-
नमृतवचनयोगात्तोषयामास सम्यक्।
नुतपदकमलोऽयं भूरिविज्ञैर्मनुष्यै-
रलवरवरपुर्यां संव्यधात्स्वप्रवेशम् ॥

(३)

निजमधुरवचोभिर्विश्वमैत्र्यं नयद्भिः,
सकलनगरलोकान् शिक्षयन्धर्मतत्वम्।
भरतपुरपुरेऽगात्साधुवर्यैः समेतो,
बहुजनकृतसेवो भिक्षुसंघप्रधानः ॥

(४)

यवननृपविशेषैर्वर्द्धिता या स्वहस्तै-
र्विविधगुणगरिष्ठा साऽगराऽऽगारहीनैः।
अमृतवचनवर्षा — कारिभिर्मेघतुल्यै—
रनुपमनगरी सत्साधुवर्यैरगामि ॥

(१)

सम्मान्य मनीषी, सर्वशास्त्रवेत्ता आचार्यवर ने जयपुर से शीघ्र ही विहार किया। भौंरा केवल एक ही कमल का रस नहीं लेता, उसी प्रकार परमार्थ का पथिक मुनि किसी एक ही घर से भिक्षा नहीं लेता।

(२)

मार्ग में आये सीधे-सादे गाँव वासियों को अपने वचनामृत से आचार्य-प्रवर ने परितुष्ट किया। अनेक विज्ञ जनों द्वारा चरण-कमलों में प्रस्तुत प्रार्थना पर वे सुन्दर अलवर नगर में पधारे।

(३)

भिक्षु-गण के अधिनेता आचार्यप्रवर ने अपने मधुर वचनों से विश्व-मैत्री की भावना का प्रसार करते हुए उन्होंने नागरिक जनों को धर्म का तत्व समझाया। तदनन्तर वे साधुओं सहित भरतपुर पधारे। बहुत से लोग सेवा में—साथ थे।

(४)

मुसलमान बादशाहों ने अपने हाथों से जिसकी अभिवृद्धि की, जो अनेक विशेषताओं से युक्त है, उस आगरा नगर में आगारहीन—अनगार—गृहत्यागी, वचन के रूप में अमृत की वर्षा करनेवाले श्रमणरूपी मेघ समागत हुए।

(५)

मुनिवरतुलसीतः सत्समाधानमाप्य,
हृदयनिहितशंकामुद्वमन्तो गभीराम् ।
बहुबुधवरवर्गाः शान्तचित्ता अभूवन्,
वमनमिव वलीयः काम्यकर्पूरयोगम् ॥

(६)

अथ गतचिरकाले मित्रगोपालबालैः,
सह बहु विदधत्स्वं बाललीलाविलासम् ।
करधृतलघुदण्डः कम्बलं सम्बलं च,
भुजपरिवृतकक्षे धारयंश्चारयन्गाः ॥

(७)

दधिघृतनवनीतं शुद्धधारोष्णदुग्धं,
गृहगृहमभिलभ्यं यत्र निर्मूलमूल्यम् ।
अकृत कृतपरार्थो यादवो वासुदेवो,
व्रजभुवि पदयात्रां तत्र चक्रे व्रतीशः ॥

(८)

नयनयुगलमध्ये नाञ्जनायापि यत्र,
विशदकृदधुनाऽप्यो गोघृतस्यैकबिन्दुः ।
हरिहरसहितेषु प्रायशो मन्दिरेषु,
ज्वलति विविधदीपः क्षिप्तकार्पासतैलः ॥

(५)

बहुत से विद्वान् अपनी हृदय स्थित गम्भीर शंकाओं का जो बाहर उद्वमित हो रही थी, आचार्य श्री तुलसी से समाधान पा शान्तचित्त हुए, जैसे कपूर के योग से उग्र वमन भी शान्त हो जाता है।

(६-८)

उसके अनन्तर आचार्यवर ने व्रज-भूमि की पद यात्रा की, जहाँ बहुत समय पूर्व परोपकार निरत, यदुवंशीय श्रीकृष्ण अपने सखा ग्वाल-बालों के साथ बहुत प्रकार की बाल-लीलाएं करते रहे थे, हाथ में छोटी सी लकुटी लिए वन में खाने के लिए साथ में लिया हुआ भोजन व कम्बल काँख में दबाये गायें चराते थे, जहाँ घर-घर उन्होंने दही, घी, मक्खन और धारोष्ण (तत्काल दुहा हुआ) दूध बिना मूल्य के सुलभ कर दिया था।

आज जहाँ नेत्रों में आंजने के लिए गाय का घृत जो नेत्र रोगों का अपहर्ता है, बूँद भर भी नहीं मिलता। प्रायः विष्णु और शिव के मन्दिरों में भी बिनौले के तेल—डालडा का ही दीपक जलता है।

(९)

गगनगतशिखाभिः पंक्तिभिर्मन्दिराणां,
सुरवसतिसमीपं प्राप्तुकामां क्षणेन ।
अथ पथि मथुरान्तां प्रार्थितो भूरिलोकैः,
पुनरपि हरिपूतां पावयामास रम्याम् ॥

(१०)

रजसि रजतजातेर्जातरूपस्य चापि,
मथितकुथितपिष्टै-र्मिश्रितैश्चूर्णयोगैः ।
निजकृतिचतुराग्रैः शिल्पिभिर्निर्मितानां,
कनकविहितलङ्कातथ्य-सन्दर्शकाणाम् ॥

(११)

सततमटति यस्मिन्निन्दिरा मन्दिराणां,
गुरुकुलनियमात्तै—रार्यविद्यार्थिवृन्दैः ।
स्वरनिपठितवेदैर्नद्यमानं नितान्तं,
गणपतिरथ यातो वर्यवृन्दावनन्तत् ॥

(१२)

कृतबहुपदयात्रः श्रान्तिमाप्तोऽपि धीमा-
ननवरतविहारं पूर्णरूपेण तन्वन् ।
पदपतितमनुष्यैरर्थितो भक्तिरक्तै-
रगमदनुपुरीन्तां नामतो याऽस्ति कोसी ॥

(९)

जिनके शिखर आकाश को छू रहे हैं, ऐसे मन्दिरों की पंक्तियों द्वारा जो स्वर्ग का सामीप्य पाना चाहती है, लोगों की प्रार्थना पर आचार्य प्रवर ने उस मथुरा को, जिसे अतीत में श्रीकृष्ण पवित्र कर चुके थे, पधार कर पुनः पवित्र किया।

(१०-११)

अपने कार्य में अत्यन्त निपुण शिल्पियों द्वारा चाँदी और स्वर्ण की रज को चूने के साथ कूट, पीस और मथकर, उसका प्रयोग कर बनाये गये, 'लंका स्वर्ण की थी'—इस किंवदन्ती को जिन्होंने (सुनहले होने के कारण) यथार्थ सिद्ध कर दिया है, ऐसे मन्दिरों की लक्ष्मी - शोभा जहाँ अनवरत अटन करती रहती है, गुरुकुल नियमानुवर्ती आर्य विद्यार्थियों द्वारा सस्वर उच्चरित वेद-पाठ से जो निनादित है, ऐसे वृन्दावन में आचार्यवर पधारे।

(१२)

अत्यधिक पद-यात्रा करने के कारण थकान युक्त होते हुए भी आचार्यवर अनवरत विहार करते रहे। चरणों में प्रणिपतित भक्तिमान् लोगों की प्रार्थना पर वे कोसी नामक नगरी में पधारे।

(१३)

मधुरवचनपूर्णं भाषणं तत्र दत्वा,
पदरजसि रतान्नॄन् भूरिशस्तोषयित्वा।
अगणितजनताया भव्यभावं विदित्वा,
पलवलनगरं स प्राप्तवान्भिक्षुनाथः ॥

(१४)

मधुसमसुपदेशं स्वादुवर्यं जनेभ्यो,
वितरति गणनाथे कुर्वति स्वं विहारम्।
अनिकटपथि देशाद् बुध्यमानैश्च चिन्है-
रभिमुखमभियाता सूक्ष्मरूपेण दिल्ली ॥

(१५)

इन्द्रप्रस्थाह्वमेकं गुरुकुलममलं चार्यसामाजिकानां,
स्वास्थ्यार्हे स्वच्छवाते तरुवरसहिते पर्वते वर्तमानम्।
मार्गे प्राप्तं तदीयैः सकलगुरुजनैश्छात्रवर्यैश्च सर्वैः,
सद्भक्त्या वन्द्यमानो मुनिभिरनुगतस्तत्र यातो मुनीशः ॥

(१६)

विद्यानानन्दभिक्षुः कुलपतिरिह तं मान्यवर्यं मुनीन्द्रं,
भव्येन स्वागतेन प्रमुदितमनसं प्रेमयोगादकार्षीत्।
जैने साधावमेलीत् पयसि पय इव ब्रह्मचारी समग्रो,
विद्वत्संमेलनं तत् सहृदयपुरुषान्हर्षयामास सम्यक् ॥

(१३)

वहाँ अपने मधुर वचनमय प्रवचन कर, भक्तिमान् लोगों को परितुष्ट कर, असंख्य जनता की भव्य भावना देख आचार्यवर पलवल शहर में पधारे।

(१४)

आचार्यवर जन-समुदाय को मधुर उपदेश देते, विहार करते आगे बढ़े जा रहे थे। दूर से ही मार्ग में चिह्नों से ऐसा प्रतीत होता था, दिल्ली मानो धीरे-धीरे आचार्यवर के सामने आ रही हो।

(१५)

स्वास्थ्यप्रद वातावरण में निर्मित, वृक्षों से घिरा, पर्वत पर अवस्थित आर्य-समाजियों द्वारा संचालित इन्द्रप्रस्थ नामक सुन्दर गुरुकुल मार्ग में आया। वहाँ गुरुजनों एवं छात्रों ने विनय सहित आचार्यवर को वन्दन किया, आचार्यवर अपने मुनिगण सहित वहाँ पधारे।

(१६)

वहाँ के कुलपति, विद्वान् आनन्द भिक्षु ने सम्मानास्पद आचार्यवर का प्रेम-पूर्वक भव्य स्वागत किया। आचार्यवर ने वहाँ पधारकर बहुत प्रसन्नता अनुभव की। जैसे दूध में पानी मिल जाता है, उसी प्रकार जैन श्रमणों में गुरुकुल के ब्रह्मचारी मिल गये। वहाँ विद्वत्सम्मेलन हुआ, सहृदय व्यक्ति जिससे बड़े हर्षित हुए।

(१७)

दिल्लीनगर्यां बहुविज्ञवर्याः,
राज्ञां जना वा धनिनो नरा वा ।
अभ्यर्थयामासु — रनेकवारं,
निजां पुरीं पावयितुं मुनीन्द्रम् ॥

(१८)

राज्यं कृतं यत्र बलिष्ठपाण्डु-
पुत्रैः प्रसिद्धैरितिहासपृष्ठैः ।
यत्रैव राज्येश्वर — पूज्यपृथ्वी-
राजोऽपि राज्यं कृतवांश्चिराय ॥

(१९)

स्वयं स्वपादे स कुठारघातं,
कुर्वन्गृहीतो यवनेश्वरेण ।
शोकाकुलां नष्ट — शरीरभूषां,
विकीर्णकेशां विधवां व्यथाद्याम् ॥

(२०)

विज्ञाय साक्षादबलामनाथां,
विदेशिनः क्रूरजनाः परेऽपि ।
आरुह्य वक्षो हठतो यदीय-
मुष्णं पपुः सर्वसजीवरक्तम् ॥

(१७)

दिल्ली नगर के अनेक विज्ञजन, राजपुरुष, धनिक, नागरिक अनेक बार आचार्यश्री से अपने पदार्पण द्वारा दिल्ली को पवित्र करने की अभ्यर्थना करते रहे थे।

(१८)

वह दिल्ली—जहाँ इतिहास-प्रसिद्ध बलवान् पाण्डवों ने राज्य किया। जहाँ अन्यान्य राजाओं द्वारा सम्मानित पृथ्वीराज चौहान ने चिरकाल तक शासन किया।

(१९)

स्वयं अपने पैरों में कुल्हाड़ी मारता हुआ वह (पृथ्वीराज चौहान) गजनी के बादशाह मुहम्मद गोरी द्वारा पकड़ लिया गया। जो शोक से आकुल है, जिसके शरीर की सुसज्जा मिट गई है, जिसके केश बिखरे हैं, दिल्ली ऐसी विधवा बना दी गई।

(२०)

उसे साक्षात् अबल और अनाथ जान अन्य निष्ठुर वैदेशिक लोगों ने भी उसकी छाती पर चढ़ उसका सजीव, उष्ण रक्त बल पूर्वक पीया।

(२१)

पुरं कदा कोऽप्यधमो विदेशी,
कुटुम्बिनोऽशेषजनान् यदीयान् ।
विच्छिन्नकण्ठानसिना चकार,
लुलुण्ठ कोषानपि रत्नपूर्णान् ॥

(२२)

हर्त्तुं यदीयं निजदेशधर्मं,
बलेन खड्गस्य भयावहस्य ।
कश्चिद्विधर्म्मी विवशां चकार,
हताऽपि याऽङ्गेषु जहौ न धर्मम् ॥

(२३)

छिन्नाऽपि भिन्नाऽपि निपेषिताऽपि,
पादैर्नितान्तं बहुमर्दिताऽपि ।
विहाय या कानिचिदङ्गकानि,
शेषं शरीरं परितो ररक्ष ॥

(२४)

उपेयुषां नाशमपि त्वरैषां,
जेता द्वितीयः प्रभुतामुपेतः ।
या भालुदन्तात्परिरक्षिताऽपि,
व्याघ्रेण गौरेण पुनर्गृहीता ॥

(२१)

अतीत में इसी नगरी में एक बार एक अधम विदेशी (नादिरशाह की ओर इंगित है) ने इसके सम्पूर्ण नागरिकों में कत्ले-आम मचा दिया था और इसके रत्नों से भरे खजानों को लूट लिया था।

(२२)

किसी विदेशी ने अपने भयावह खड्ग द्वारा जिसके धर्म को मिटाने के लिये जिसे विवश कर दिया था पर अंग-प्रत्यंग में हत होने पर भी—घायल होने पर भी जिसने अपना धर्म नहीं छोड़ा।

(२३)

जो छिन्न-भिन्न की गई, पीसी गई—कुचली गई, पैरों से रौंदी गई पर कुछ एक अंगों को छोड़कर जिसने अपने शेष सम्पूर्ण शरीर की भली-भाँति रक्षा की। अर्थात् जिसके कुछ अंग तो विकृत हुए—अपना धर्म छोड़ा पर मूलता जो अविकृत रही।

(२४)

उनका (बाहर के शासकों का) नाश होने पर शीघ्र ही दूसरा विजेता आया, इसपर अपना प्रभुत्व स्थापित किया। मानो वह भालू के दांतों से परिरक्षित की गई थी पर गौर व्याघ्र (अंग्रेजों) ने फिर उसे पकड़ लिया।

(२५)

मुखे ब्रुवाणो वहुरामरामं,
कक्षे दधानो निशितं क्षुरं सः ।
कर्त्तव्यमूढां विदधौ सदा या-
मङ्गद्वयेऽस्याः कलशं विधाय ॥

(२६)

क्षुत्क्षामकण्ठामसृजा विसृष्टा-
महर्दिवं यां रुदितां वराकीम् ।
अहिंसया गान्धिरथोद्धार,
पञ्चाननस्याननतो महात्मा ॥

(२७)

स गौरसिंहो निजजन्मदेशं,
व्रजन्नपि क्रूरदशैव यस्याः ।
विच्छिन्नपूर्वं वहुसूक्ष्मयुक्त-
मङ्गं द्वितीयं पृथगेव चक्रे ॥

(२८)

अन्तर्व्रणानां महतामिदानीं,
विधाय यस्या उचितोपचारम् ।
श्रीनेहरू — मन्त्रिगणप्रधानः,
सुखेन यां निःश्वसितां करोति ॥

(२५)

वह (गौर व्याघ्र) मुख से बहुत राम राम रटता था पर अपनी बगल में तेज छुरी छिपाये था। इसके दो अंगों—हिन्दुओं और मुसलमानों में कलह उत्पन्न कर इसे वह सदा कर्त्तव्यमूढ़ बनाये रहा।

(२६)

जिसका भूख से गला रुंध गया था, जिसका रक्त निकल चुका था, जो बेचारी रात-दिन रोती रहती थी, महात्मा गान्धी ने अहिंसा-बल से उसे सिंह के मुख से निकाला।

(२७)

उस गोरे सिंह (अंग्रेजों) ने अपने जन्म-स्थान को जाते-जाते क्रूर दृष्टि से जिसके दूसरे अंग (मुसलमानों) को, जो लगभग पहले ही उस द्वारा विच्छिन्न किया जा चुका था, मात्र थोड़ा सा जुड़ा था, (पाकिस्तान के रूप में) सर्वथा पृथक् कर दिया।

२८)

इस समय जिसके भीतरी घावों का उचित उपचार प्रधान मंत्री श्री नेहरू कर रहे हैं। अतएव जो अब सुख की सांस ले रही है।

(२९)

सख्यं समं कारयितुं मघोना,
श्रीनेहरोर्नीति — विचक्षणस्य ।
प्रासादवर्या बहवो यदीयाः,
सोपानरूपा गगनं स्पृशन्ति ॥

(३०)

वज्रै रपि क्रूरतमैरभेद्याः,
पार्श्वद्वये पादपपंक्तिपूर्णाः ।
चतुर्दिशोपेत — समस्तमार्गाः,
विशन्ति यां भूरिनदा इवाब्धिम् ॥

(३१)

नितान्तनिम्नोच्च — विवेकहीना,
रथ्यासु रथ्यास्वधुनाऽथ यस्याः ।
विहाय सर्वाण्यवगुण्ठनानि,
सरस्वती पर्यटति स्वतन्त्रा ॥

(३२)

अनल्पशिल्पेषु विशारदेषु,
राज्ञां निबद्धेषु सुबुद्धिमत्सु ।
मेघानुगा वर्षति यत्र लक्ष्मी-
र्व्यापारिवर्गेषु विशेषरूपात् ॥

(२६)

जिसके राज-प्रसाद आकाश को छू रहे हैं। मानो वे श्री नेहरू की इन्द्र के साथ मैत्री कराने के लिए इन्द्रलोक तक पहुँचाने के निमित्त सोपान का रूप लेना चाहते हैं।

(३०)

(पीच के बने होने के कारण) कठोरतम वज्र से भी जिनका भेदन नहीं किया जा सकता, जिनके दोनों ओर वृक्षों की पंक्तियाँ हैं, जो चारों दिशाओं से आते हैं, ऐसे मार्ग जिसमें इस प्रकार प्रविष्ट-समाविष्ट होते हैं, मानो नदियाँ समुद्र में प्रवेश कर रही हैं।

(३१)

ऊँच-नीच के भेद के बिना जहाँ सरस्वती सब अवगुण्ठनों को छोड़ जिसकी गली-गली में स्वतंत्र रूप से पर्यटन करती है। अर्थात् जिसकी गली-गली में विद्यालय हैं, जहाँ बिना किसी भेद-भाव के सब विद्याध्ययन करते हैं।

(३२)

जहाँ निपुण शिल्पकारों, राज्य पदों पर अधिष्ठित बुद्धिमान् जनों तथा विशेषतः व्यापारी लोगों पर लक्ष्मी मेघ के समान बरसती है।

(३३)

यो वायुवेगैर्बहुभिर्नवीनैः,
साधूनघोर — ध्वनिमुद्गमद्भिः ।
विमानकै — र्मोटरकाररेलै-
र्धूमायमाना प्रणिनाद्यमाना ॥

(३४)

स्वदेशसंसाधित — वेशभूषै-
र्बुद्ध्या प्रवृत्तैरथ राजदूतैः ।
परस्परं स्वैर्नियमैर्निबद्धै-
र्या शोभमाना परराष्ट्रजाता ॥

(३५)

कांग्रेससंस्थापरिशासितां तां,
दिल्लीपुरीं भारतराजधानीम् ।
समाययौ श्रीतुलसीगणीशः,
शिष्टैरसंख्यैः पुरुषैः समेतः ॥

(३६)

उपस्थितान्नागरिकान् समस्तान्,
उपागतान्धर्म — रहस्यमाप्तुम् ।
सम्बोध्य वाग्मी मधुरैर्वचोभि-
र्धर्मस्य रूपं प्रकटीचकार ॥

(३३)

जिसमें वायु के समान वेगशाली, मोटर, रेल, विमान आदि वहुत से वाहन धम्र सहित घोर-ध्वनि का उद्‌वमन करते हुए जिसे धूम्रमय और नादमय बनाते रहते हैं।

(३४)

जो अपने देश की वेष-भूषा धारण किये रहते हैं, अपनी बुद्धिमत्ता से जिन्होंने राजदूत का पद पाया है, जो परस्पर अपने नियमों से बंधे हैं, विविध देशों के ऐसे राजदूतों से जो (दिल्ली) शोभायमान है।

(३५)

कांग्रेस-शासन द्वारा परिशासित भारत की राजधानी उस दिल्ली नगरी में गणनायक आचार्य श्री तुलसी अनेक शिष्ट जनों के साथ पधारे।

(३६)

धर्म का रहस्य जानने के लिए आए हुए गृही जनों, नागरिकों को सम्बोधित कर गंभीर प्रवचनकार आचार्यवर ने उन्हें मधुर शब्दों में धर्म का स्वरूप समझाया।

(३७)

सुचान्दनीचौक —महापणाङ्गणे,
शिष्टैर्विशिष्टैः पुरुषैः सुशोभितम् ।
अणुव्रतानां प्रथमाधिवेशनं,
बभूव चाश्चर्यकरं जगत्तले ॥

(३८)

अणुव्रतान्दोलनतः प्रभाविता,
त्यागप्रिया पञ्चशती महानृणाम् ।
दृढां प्रतिज्ञामकरोद्व्रतोद्भवा-
मुत्थाय पुंसां बहुशोऽभ्युपस्थितौ ॥

(३९)

इदं नवं सत्ययुगोचितं मह-
दाश्चर्यकृद्दृश्यमवेक्ष्य सुन्दरम् ।
विज्ञा धनीशा अथ राजपूरुषाः,
पर्यैक्षयन्स्वं हृदयं पुनः पुनः ॥

(४०)

नान्तमाधाय गणीन्द्रसंमुखं,
स्वकीयपत्रेष्वपि पत्रकारकैः ।
मुद्रापितं वृत्तमिदं महाद्भुतं,
व्याप्तं ततस्तैलमिवाम्बुनि स्वयम् ॥

(३७)

दिल्ली-प्रवास के बीच चांदनी चौक के महाप्रांगण में अणुव्रती संघ (अणुव्रत-आन्दोलन) का आश्चर्यकर—महत्वपूर्ण अधिवेशन सम्पन्न हुआ, जिसमें अनेक शिष्ट, विशिष्ट व्यक्तियों ने भाग लिया।

(३८)

अणुव्रतों के आन्दोलन से प्रभावित हो, पाँच सौ संयमानुरागी मनुष्यों ने विशाल जन-समुदाय के मध्य खड़े हो, अणुव्रतों की दृढ़तापूर्वक प्रतिज्ञा ली — अणुव्रत-नियम स्वीकार किये।

(३९)

विद्वान्, धनी तथा राज-पदाधिकारी जन इस विस्मयजनक सत् युगोचित, सुन्दर दृश्य को देख अपना-अपना हृदय टटोलने लगे।

(४०)

गणिवर के सम्मुख रखे अपने प्रश्नों का समाधान पा पत्रकारों ने अपने-अपने पत्रों में इन अद्भुत समाचारों को विस्तार के साथ प्रकाशित किया। जैसे जल में तेल फैल जाता है, उसी तरह अणुव्रतों के आन्दोलन की बात सर्वत्र फैल गई।

(४१)

उत्कोचमङ्गारनिभं निभालयं-
स्तत्याज राज्ञः पुरुषः प्रतिज्ञया ।
अतथ्यतोलं तुलितं महाहिना,
मुमोच वैश्यः शपथस्य वा पथा ॥

(४२)

प्रासादके राष्ट्रपतेर्पदार्पणं,
पूज्यो व्यतानीदुपकारकाम्यया ।
अणुव्रतं राष्ट्रपतिर्महोदयः,
समर्थयामास विकासकारकम् ॥

(४३)

अन्यासु संस्थास्वपि भूरिभाषणं,
यतस्ततोऽदादपरो बृहस्पतिः ।
सभ्या प्रसेदुर्न्यदहन् विरोधिनो,
यवा यवासा इव मेघवर्षणात् ॥

(४४)

अधीतिनो व्याकरणे च दर्शने,
वेदान्त–पाथोनिधिपारकारकाः ।
लोकस्य नेतृप्रवरा अनेकशो,
जाताः प्रसन्ना मुनिवर्यदर्शनात् ॥

(४१)

इससे प्रभावित हो राज-पुरुषों ने रिश्वत को अंगार के समान जान उसे छोड़ने की प्रतिज्ञा की। व्यापारियों ने कूट-तोल-माप—कम तोलना, कम मापना—को विषधर नाग के समान समझ उसे छोड़ने का व्रत लिया।

(४२)

उपकार-भावना लिए आचार्यवर राष्ट्रपति-भवन में पधारे। राष्ट्रपतिजी ने जीवन को विकसित बनानेवाले अणुव्रत-अभियान का समर्थन किया।

(४३)

अन्यान्य स्थानों में भी आचार्य-प्रवर ने, जो मानो दूसरे बृहस्पति थे, अनेक प्रवचन किये। सभ्य जन इससे इस प्रकार प्रसन्न हुए, जिस प्रकार मेघों के बरसने पर जौ के पौधे हरे-भरे हो जाते हैं और विरोधी लोग इस प्रकार जल-भुन गये, जिस प्रकार मेघ बरसने पर जवास के पौधे जल जाते हैं—सूख जाते हैं।

(४४)

अनेक वैयाकरण, दार्शनिक, वेदान्तरूपी समुद्र के पारगामी विद्वान्, अनेक लोक-नेता आचार्यवर के दर्शनों का लाभ ले प्रसन्न हुए।

(४५)

अथ स्तुतोऽपीत्यधिवासहेतवे,
संप्रस्थितः पंचनदाय धीधनः।
स्तुतेर्न तिष्ठन्ति न यन्ति निन्दना-
न्मानेऽप्यमाने च समा मनस्विनः॥

(४६)

मार्गेऽपि तिष्ठन् विपुलप्रतिष्ठः,
शङ्काकुशान् बोधितपादयुग्मान्।
तर्कैः समाधाननिभैर्निपिच्य,
चिच्छेद चाणक्य इव क्षणेन॥

(४७)

प्रतिष्ठमानः प्रभुणा समानः,
क्वाप्येकरात्रं कुहचिद्द्विरात्रम्।
विरम्य रम्यं तुरगं व्रताना-
मारोहितो रोहतके प्रविष्टः॥

(४८)

अणुव्रतानां गृहिमानवेषु,
तत्राप्यकार्षीदधिकं प्रचारम्।
प्रभाविताऽतो जनता समग्रा,
व्यग्राऽपि कार्येषु जगत्स्थितेषु॥

(४५)

यद्यपि अधिक प्रवास के लिए लोगों की प्रार्थना थी, पर आचार्यवर और नहीं ठहरे। उन्होंने पंजाब की ओर प्रस्थान किया। महापुरुष स्तुति करने पर ठहरते नहीं, निन्दा करने पर जाते नहीं। उन्हें स्तुति और निन्दा से क्या। वे मान और अपमान में समान भावना रखते हैं।

(४६)

मार्गानुक्रम के मध्य ठहरते हुए, विपुल प्रतिष्ठापन्न आचार्य प्रवर लोगों द्वारा उपस्थापित शंकाओं को इस प्रकार सर्वथा उच्छिन्न कर देते थे, जिस प्रकार चाणक्य ने परों में गड़ी कुश को छाछ सींचकर निर्मूल कर दिया था। [छाछ से कुश की जड़ सर्वथा ध्वस्त हो जाती है]

(४७)

भगवान् महावीर के तुल्य, कहीं एक रात, कहीं दो रात ठहरते हुए, व्रतों के रम्य अश्व पर आरूढ़ आचार्यवर रोहतक नामक नगर में आये।

(४८)

वहाँ उन्होंने गृहस्थों में अणुव्रतों का अधिकाधिक प्रचार किया। सांसारिक कार्य-कलाप में व्यस्त होते हुए भी लोग इससे बहुत प्रभावित हुए।

(४९)

कृतेऽपि विघ्ने समये समस्ते,
विरोधिभिः क्रोधकृशानुदग्धैः।
धर्मोपदेशं शिवमात्रलेशं,
सर्वेऽप्यश्रृण्वन् गणिनो मनुष्याः॥

(५०)

ततो विहारं कृतवान् गणीशः,
स्वकीयनिर्णीत—विचारपूर्वकम्।
समुत्सुकैर्धर्मधुरं ग्रहीतुं,
त्यक्तोऽपि मार्गो न मुनीशसङ्गः॥

(४६)

क्रोध रूपी अग्नि से दग्ध विरोधियों द्वारा हर समय विघ्न किये जाते रहने पर भी सब लोग आचार्य प्रवर का अन्तःश्रेयसप्रद धर्मोपदेश सुनते रहते।

(५०)

कृतित्वशील गणिवर ने अपने पूर्व निर्धारित विचारों के अनुसार वहाँ से विहार किया। धर्म के प्रति अभिरुचि रखनेवाले लोगों ने मार्ग में भी आचार्यवर का सान्निध्य नहीं छोड़ा।

ओम्

अथ एकोनविंशः सर्गः

(१)

विद्याविलासी गुणिकीर्त्तिभाषी,
हांसीनगर्याः पुरुषो निवासी।
बलाहकस्येव कृपिप्रणेता,
गणात्मनः संविदधौ प्रतीक्षाम् ॥

(२)

आगन्तुकानां बहुमानवानां,
मोक्षामृतं तत्र पिपासुकानाम्।
मार्गस्थले पंक्तिमधिष्ठितानां,
मनोरथान् प्रेमपरः प्रपूर्य ॥

(३)

श्रद्धानदीस्नान — पवित्रगात्रैः,
समुत्सुकैः सद्गुरुदर्शनाय।
बालैश्च वृद्धैर्युवभिः कलत्रै-
र्गृहीतपादः कृतधर्मनादः ॥

(४)

ततश्चतुर्मास — निवासहेतो-
र्गणाधिराजो बुधवर्यवन्द्यः।
भाग्योदयेनैव तदीयपुंसां,
हांसीनगर्यां सपदि प्रविष्टः ॥

(१)

विद्या में अनुराग रखने वाले, आचार्यवर के यश का बखान करने वाले हांसी के नागरिक आचार्यवर की उसी तरह प्रतीक्षा कर रहे थे, जिस तरह किसान मेघ की प्रतीक्षा करता है।

(२-४)

मोक्षोपदेशरूपी अमृत-पान की आकांक्षा लिए आये हुए, मार्ग में पंक्तिबद्ध खड़े हुए बहुत से लोगों के मनोरथों को पूर्ण करते हुए आचार्यवर आगे बढ़े आ रहे थे।

श्रद्धारूपी नदी में स्नान करने से जिनका देह पवित्र है; जो गुरु के दर्शन की उत्सुकता लिए हुए हैं, ऐसे बालक, वृद्ध, युवक तथा महिलाएँ आचार्यवर के चरणों में नत थे, धार्मिक नारे लगा रहे थे।

विद्वन्मान्य आचार्यप्रवर इस प्रकार चातुर्मासिक प्रवास के लिए हांसी नगरी में पधारे। हांसीवासियों के लिए यह उनके भाग्योदय की वेला थी।

(५)

आचार्यवर्यस्य पदार्पणेन,
नष्टानि सर्वाण्यथ किल्विषाणि ।
गृहे गृहे धर्मभवो विकासो,
विना विलम्बं गतवान् विवृद्धिम् ॥

(६)

विश्लेषपूर्णां विहितार्थभावां,
हिन्दीवर—प्राकृतसंस्कृतानाम् ।
धाराप्रवाहेण निगद्यमानां,
व्याख्यानशैलिं गणिनो विलोक्य ॥

(७)

सरस्वती किन्तु बृहस्पतिः किं,
स्वर्गस्थलाद् भूमितलेऽवतीर्य ।
कश्चित्स्वयं संप्रति भाषमाणः,
इत्येव तर्कं बहवो वितेनुः ॥

(८)

महाव्रतास्त्रै—र्निशितैर्नितान्तं,
कृत्वा क्षयं दुष्कृतकाननानाम् ।
सत्साधवो मोक्षसमक्षमेते,
गन्तुं क्षमा मार्गविशुद्धिहेतोः ॥

(५)

आचार्यवर के पदार्पण का यह प्रभाव था—सब कल्मष नष्ट हो गये तथा अविलम्ब घर-घर में धार्मिक विकास बढ़ने लगा।

(६-७)

हिन्दी, संस्कृत एवं प्राकृत में गणिवर की विश्लेषणयुक्त, अर्थ व भावमय व्याख्यान-शैली को देख लोग यों तर्कणा करने लगे कि क्या स्वर्ग से उतर कर [illegible] रहे हैं।

(८)

लोग सोचने लगे—मार्ग को साफ करने के लिये महाव्रतरूपी तीक्ष्ण शस्त्रों से पापरूपी जंगल—झाड़-झंखाड़ को काटकर ये साधुगण मोक्ष की ओर आगे बढ़ने में सक्षम हो रहे हैं।

(९)

गृहेस्थिता अप्यधुना वयं कि-
मणुव्रतानां सहयोगमाप्य ।
आचार्यवर्यस्य कृपाप्रतापात्,
कुर्याम दुष्कर्मविनाशनं न ॥

(१०)

इत्थं ब्रुवन्तो बहुबुद्धिमन्तो,
गणीश — पादाब्जयुगानुपेत्य ।
अणुव्रतानां कठिनां प्रतिज्ञां,
गृहीतवन्तः प्रणिबद्ध्य हस्तौ ॥

(११)

उत्सार्य धर्मस्य विशुद्धतत्वं,
गुहास्थलाद् व्याप्तमहान्धकारात् ।
शीघ्रं निराशाय ददौ जनाय,
यो भाषते तत्पृथिवीप्रविष्टम् ॥

(१२)

धनं न गृह्णाति धनाम्बुधिभ्यो,
नोपाधिपत्राणि नृपोत्तमेभ्यः ।
कृषीवलेभ्यो लभते कृषिं न,
प्राप्नोति भूमिं न च तत्पतिभ्यः ॥

(१३)

उद्यानवद्भ्यो न फलं न पुष्पं,
गोपालकेभ्यो महिषीं न धेनुम् ।
नाकांक्षते मान्यमुनिस्तदर्थ-
देयोपहारे बहवो व्यचिन्तन् ।

(९)

तब हम गृहीजन भी आचार्यवर्य की कृपा से—कृपापूर्ण उपदेश से अणुव्रतों का सहयोग पाकर क्या पापों का विनाश न करें ?

(१०)

इस प्रकार कहते हुए अनेक बुद्धिमान् मनुष्यों ने गणिवर के चरण-कमलों में उपस्थित हो, हाथ जोड़ अणुव्रतों की कठिन प्रतिज्ञा ग्रहण की।

(११)

आचार्यवर्य ने घोर अन्धकारपूर्ण गुहास्थल से धर्म का विशुद्ध तत्व निकालकर उन निराश मनुष्यों को प्रदान किया, जो कहते थे कि वह तो अब पृथ्वी में समा गया है।

(१२-१३)

आचार्यवर्य धनिकों से धन नहीं लेते, राज्य से उपाधिपत्र नहीं लेते, किसानों से खेत नहीं लेते, भूमिपतियों से भूमि नहीं लेते, उद्यानपतियों से फूल और फल नहीं लेते और गोपालकों से गाय और भैंस नहीं लेते। अतएव उन्हें क्या भेंट देनी चाहिए—इस सम्बन्ध में अनेक मनुष्य विचार करने लगे।

(१४)

अस्मादृशानां कविकिङ्कराणां,
पद्योपहारं ददतां स्वतन्त्रम्।
न काऽपि चिन्ता महती बभूव,
विद्याधनं साधुभिरप्यवाप्यम्॥

(१५)

एवं चतुर्मासविधौ समाप्ते,
पुरीं भिवानीं प्रति स प्रतस्थे।
विहाय शोकाकुलितान् मनुष्यान्,
पुनः पुनः संपतितान् पदाब्जे॥

(१६)

दानी भिवानीनगरे गुणानां,
समागतो माघमहोत्सवाय।
नानादिशाभ्यः श्रमणाः परेऽपि,
समाययुः सद्गुरुदर्शनाय॥

(१४)

हम सरीखे तुच्छ कवियों को, जो स्वतंत्रतापूर्वक अपने पद्यों की भेंट देते रहते हैं, कोई विशेष चिन्ता की बात नहीं थी। क्योंकि विद्यारूपी धन साधुओं द्वारा भी ग्राह्य है।

(१५)

इसी प्रकार चातुर्मास परिसम्पन्न हुआ। शोक से आकुल तथा वार-वार चरणों में नत होते मनुष्यों को छोड़ आचार्यवर ने भिवानी की ओर प्रस्थान किया।

(१६)

गुणों का दान करनेवाले आचार्यवर मर्यादा-महोत्सव के लिए भिवानी पधारे। गुरु के दर्शन के लिए अनेक दिशाओं से साधु-साध्वियां भी वहां उपस्थित हुईं।

(१७)

माघोत्सवं साधुसतीसमेतं,
संपाद्य सर्वं क्रमशः सहर्षम् ।
अग्रे व्यहार्षीन्मुनिपो नराणां,
विशोधयन् मानसदूषणानि ॥

(१८

जीन्दस्य राज्यस्य च भूतपूर्वां,
सुराजधानीं सगरूरसंज्ञाम् ।
द्वारं महापञ्चनदस्य मुख्यं,
प्राप्तप्रतापः स समाजगाम ॥

(१९)

उत्साहपूर्वं विहितेऽपि लोकैः,
सुस्वागते तस्य तपोधनस्य ।
दीक्षोत्सवस्यैकमिषेण धूर्तै-
रुपद्रवः संगठितो व्यधायि ॥

(२०)

तावत् क्रमः कर्कशकाककाकोः,
कर्णान्नराणां कषितुं समर्थः ।
न श्रूयते कोकिलकाकलीनां,
यावद्विधानं मधुरध्वनीनाम् ॥

(१७)

आचार्यवर ने हर्षपूर्वक, यथाविधि साधु-साध्वियों सहित मर्यादा-महोत्सव सम्पन्न कर जन-जन की भावना को परिशोधित करते हुए आगे विहार किया।

(१८)

परम प्रतापी आचार्यवर जिन्द राज्य की भूतपूर्व राजधानी तथा पंजाब के मुख्य द्वार रूप में स्थित संगरूर नगर में पधारे।

(१६)

लोगों ने महातपा आचार्यवर का उत्साह के साथ स्वागत किया। संगरूर-प्रवास के बीच कतिपय धूर्त्तों ने दीक्षा-महोत्सव के मिष से संगठित रूप में उपद्रव करने की ठानी।

(२०)

कौओं की कर्कश वाणी लोगों के कानों को तभी तक कसती है, जब तक कोकिल की मधुर काकली नहीं सुनाई देती।

(२१)

गर्जन् गणीशो निजभाषणस्य,
धाराप्रवाहेण निरन्तरेण ।
मेघो जलस्येव पथिस्थपङ्कं,
प्रवाहयामास विरोधभावम् ॥

(२२)

मातुः पितुर्बन्धुजनस्य पत्यु-
राज्ञां गृहीत्वा सुपरीक्षिताय ।
पात्राय वैराग्ययुताय दीक्षां,
ददौ नयं भूरि नृणां समक्षे ॥

(२३)

रुन्ध्यात्करं को मम पापपङ्का-
दुद्धर्तुकामं विकलं मनुष्यम् ।
विघ्नैरनेकैरपि बाध्यमानाः,
न्याय्यात् पथः किं विचलन्ति धीराः ॥

(२४)

एवं वदन् सर्वविधिं समाप्य,
दीक्षोत्सवस्यानुपमस्य नाथः ।
अध्यात्मभावांश्च जनेषु भृत्वा,
ततो विहारं कृतवान् ससंघः ॥

(२१)

गणिवर ने गरजते हुए, अपने भाषण के धारा-प्रवाह से विरोध को इस प्रकार बहा दिया, जिस प्रकार मेघ अपनी जल-धारा से मार्ग-स्थित कीचड़ को बहा देता है।

(२२)

उन्होंने कहा—"माता, पिता, पारिवारिक जन, पति (यदि विवाहित महिला दीक्षार्थी हो)—सबकी स्वीकृति ले वैराग्यवान् पात्र को विशाल जन-समुदाय के समक्ष हम दीक्षा देते हैं।

(२३)

आकुल मानव को पापरूपी कीचड़ से निकालते, मेरा हाथ कौन रोक सकता है ? अनेक विघ्नों से बाधित होकर भी क्या धीर जन न्यायपूर्ण पथ से कभी विचलित होते हैं ?"

(२४)

यों कहते हुए अनुपम दीक्षा-संस्कार की सब विधियाँ पूर्णकर, लोगों में अध्यात्म-भावना भर आचार्यवर ने वहाँ से ससंघ विहार किया।

(२५)

राज्ञो नगर्यां पटियालिकायां,
नाभापुरे वाऽहमदे गढे वा ।
व्यापारपुर्यां जगरान्निकायां,
परासु वा पर्यटता पुरीषु ॥

(२६)

कृतः प्रवेशः श्रमणाधिपेन,
लोकैरसंख्यैः पथि सेवितेन ।
परिश्रमप्रापित — वैभवायां,
महानगर्यां लुधियानिकायाम् ॥

(२७)

अणुव्रतानां महतां द्वितीयो,
महोत्सवस्तत्र बभूव भूयान् ।
अभ्यागमत् पञ्चनदस्य शिक्षा-
मन्त्र्युत्तमः पञ्चमचन्द्रसंज्ञः ॥

(२८)

अन्येऽपि मान्या मनुजा उपेत्य,
व्यवर्द्धयन् सूत्सवभूरिशोभाम् ।
केचिन् महासत्त्वगुणैर्विशिष्टाः,
अणुव्रतं स्वीकृतवन्त एव ॥

(२५-२६)

पेप्सू राज्य की राजधानी पटियाला तथा नाभा, अहमदगढ़, व्यापारिक मण्डी जगराओं व अन्यान्य शहरों में पर्यटन करते हुए आचार्यवर लुधियाना नगर में पधारे, जो परिश्रम—गृह-उद्योग के कारण अत्यन्त सम्पन्न है। अनेक लोग आचार्यवर की अगवानी के लिए मार्ग में सामने आये थे।

(२७)

गरिमामय अणुव्रत-आन्दोलन का दूसरा अधिवेशन लुधियाना में सम्पन्न हुआ, जिसमें पंजाब के तत्कालीन शिक्षा-मंत्री श्री पंचमचन्द्र भी उपस्थित थे।

(२८)

और भी बहुत से सम्मानास्पद व्यक्तियों ने उपस्थित हो, उत्सव की शोभा बढ़ाई। अनेक सत्त्व-सम्पन्न व्यक्तियों ने अणुव्रत-नियम स्वीकार किये।

(२६)

व्याख्यानदानाय मुनीश्वरेऽस्मिन्,
विद्यालये राजति राजकीये ।
उद्दण्डिभिश्छात्र — गणैरनेकै-
रुत्पातसंजातमकारि कार्यम् ॥

(३

तद्भाषणेनामृत — वर्षकेण,
विद्यार्थिवर्गः कुपितोऽपि भूयः ।
फणीव मन्त्रेण तदैव शान्तो,
वाचैव शत्रुः सखितामुपैति ॥

(३१)

निश्चित्य चित्ते गणिनां वरिष्ठो,
दिल्लीं चतुर्मासनिवासभूमिम् ।
ततो व्रजन् रोपड़नामधेयं,
स्थानं पथिस्थं कृतवान् पवित्रम् ॥

(३२)

विधाय हिन्दू — यवनौ युवानौ,
युद्धं मिथः पूर्वमधर्ममूलम् ।
कालं व्यधातामितिहासपत्रं,
पानीपतं तन्मुनिपः प्रतस्थे ॥

(२९)

आचार्यवर वहाँ गवर्नमेण्ट कालेज में प्रवचन करने पधारे। (एक धार्मिक आचार्य के प्रवचन का वहाँ यह पहला अवसर था।) वहाँ उद्दण्ड छात्र उत्पात—कोलाहल—अशान्ति करने की मुद्रा में प्रतीत होते थे।

(३०)

आचार्यवर के प्रवचन से, जो अमृत वर्षा के तुल्य था, अशान्त-मुद्रा में स्थित विद्यार्थी भी उस तरह शान्त हो गये, जिस तरह मन्त्र से साँप शान्त हो जाता है। वस्तुतः वचन ही वह हेतु है, जिससे शत्रु भी मित्र बन जाता है।

(३१)

गणिवर ने मन में दिल्ली का चातुर्मास निश्चित कर मार्ग में आये रोपड़ नामक स्थान को अपने पदार्पण से पवित्र किया।

(३२)

तदनन्तर पानीपत नामक नगर में पधारे, जहाँ पूर्वकाल में युवा हिन्दू-मुसलमानों ने अधर्ममूलक युद्ध कर इतिहास के पन्ने काले किये थे।

(३३)

युद्धं विधेयं स्ववपुःस्थितेन,
महाकषायेण रिपूद्धतेन ।
तत्रोपदिश्येति महानुभावः,
सोनीपतादी — ननुपेक्षमाणः ॥

(३४)

हर्म्यैर्महोच्चै — रनुमीयमानां,
धूमायमानां बहुवह्नियन्त्रैः ।
अनेकभूपैः परिभुज्यमानां,
ददर्श दिल्लीं दयितां बलस्य ॥

(३५)

दूरादुपेतै रजसाऽभ्युपेतै-
र्बद्ध्वाऽञ्जलिं पादयुगे पतद्भिः ।
दिल्लीनगर्यां बहुभिर्मनुष्यैः,
सुस्वागतं मान्यमुनेरकारि ॥

(३६)

मुनीश्वरेणाऽपि कृपां विधाय,
वर्गेषु सर्वेषु विनाऽवरोधम् ।
अणुव्रतानां विहितः प्रचार-
श्चेतांसि संशोधयितुं जनानाम् ॥

(३३-३४)

"अपने अन्तरतम में स्थित उग्र कषायरूप उद्धत शत्रु से युद्ध करना चाहिए"—वहाँ यों उपदेश कर आचार्यवर सोनीपत आदि नगरों की उपेक्षा न करते हुए अर्थात् वहां भी ठहरते हुए दिल्ली आये, ऊँचे-ऊँचे भवन जिसकी पहचान थे, अग्नि चालित यंत्रों के कारण जो धूम्रमय थी, अनेक राजाओं ने जिसका परिभोग किया था, जो व्यक्ति विशेष की नहीं, बल की स्त्री रही है अर्थात् बलवान जिस पर अधिकार करते रहे हैं—जो बलवद्-भोग्या-रही है।

(३५)

आचार्यवर के दिल्ली-प्रवेश के अवसर पर, उनकी अगवानी के लिए दूर तक आने के कारण जो धूल धूसरित थे, ऐसे अनेक नागरिकों ने उनके चरणों में नत हो, हाथ जोड़ उनका हार्दिक स्वागत किया।

(३६)

जन-जन के अन्तरतम की परिशुद्धि के लिए आचार्यवर ने सभी वर्गों में अणुव्रतों का अनवरत प्रसार किया।

(३७)

लोकैरनेकैर्बहुशः प्रसन्नै-
रराजकीयैरथ राजकीयैः ।
आचार्यवर्यस्य महोपदेशो,
न्यधायि शङ्कारहितैस्तदानीम् ॥

(३८)

विधिं चतुर्मासगतं समाप्य,
मग्नाय रुग्णाय सुमन्त्रिणेऽतः ।
स्वदर्शनं दातुमना मुनीशो,
मरुस्थलीं प्रत्यकरोन्मुखं स्वम् ॥

(३७)

अनेक राज्यकर्मचारियों तथा नागरिकों ने अत्यन्त प्रसन्नता लिये निःसंकोचं भाव से आचार्यवर का महत्त्वपूर्ण उपदेश अपनाया– तदनुरूप जीवन बनाने को वे कृत-संकल्प हुए।

(३८)

यों चातुर्मास परिसमाप्त कर आचार्यवर ने रुग्ण मन्त्रिवर श्री मगन मुनि को दर्शन देने के लिए मरुस्थली की ओर विहार करने का विचार किया।

ओम्

अथ विंशत्तमः सर्गः

(१)

अणुव्रतोद्यान — मनन्तवृष्ट्या,
सिक्त्वाऽधुना साधुपतिं पयोदम् ।
कालो चतुर्मासगते समाप्ते,
प्रतिव्रजन्तं वरराजधान्याः ॥

(२)

प्रणन्तुकामा मुनिभक्त्यवामा,
नश्यद्विरामा जनताऽभिरामा ।
कठौतियानां भवने निजाश्रु-
बिन्दूपहारं ददतीत्यमुष्मै ॥

(३)

सर्वैः समेतं मुनिभिस्तमेतं,
रोद्धुं क्षमा नाभवदर्चितांघ्रिम् ।
मार्गश्रमानप्यनपेक्ष्य सोऽय-
मन्तः प्रविष्टः सरदारपुर्याम् ॥

(४)

रागैर्विदीर्णोऽप्यथ शक्तिविद्धो,
भ्रातेव रामस्य स मग्नमन्त्री ।
महौषधश्रीतुलसी — प्रभावा-
दुत्तस्थिवानाशु विहाय शय्याम् ॥

(१-३)

अणुव्रतरूपी उद्यान को अपनी अमित वृष्टि द्वारा सींच, चातुर्मास की परिसमाप्ति कर राजधानी से लौटते हुए आचार्यवररूपी मेघ को नमन करने की भावना लिए, मुनियों के प्रति भक्तिमान्, सौम्य जन अत्यन्त शीघ्रता से कठौतिया भवन में आये और (आचार्यवर के भविष्यमाण प्रस्थान-जनित खेद के कारण) अपने आँसुओं की बूंदों का उपहार उन्हें समर्पित करने लगे। सब मुनियों के साथ प्रस्थान करते पूज्यपाद आचार्यप्रवर को वे रोक नहीं सके। वहाँ से प्रस्थान कर, मार्ग-श्रम की परवाह न करते हुए वे सरदारशहर पधारे।

(४)

रोगों से विदीर्ण, अतएव शारीरिक दृष्टि से अशक्त मन्त्रिवर शक्ति से विधे लक्ष्मण की तरह महौषधरूपी तुलसी के प्रभाव से शय्या छोड़कर शीघ्र उठ बैठे।

(५)

विजित्य दुष्टान् कृतधर्मचौर्यान्,
समागतात् स्वीयगुरोः सकाशात् ।
निशम्य सर्वं विजयस्य वृत्तं,
तथा प्रसन्नः स बभूव भूयान् ॥

(६)

सुशान्तसीता— हरणेऽतिधृष्टान्,
पुलस्त्यपौत्रान् विकृतस्वभावान् ।
विजित्य यातान्निजबन्धुरामाद्,
यथा कथां श्रीभरतोऽवगम्य ॥

(७)

दिशास्वशेषा — स्ववगाहमानो,
न सोंऽशुमालीव गणी व्यरंसीत् ।
इहैव पश्चादपरत्र गत्वा,
स्वीयं चतुर्मासविधिं वितेने ॥

(८)

चिरादवाप्तानि निपीय कर्ण-
जेना मुनीनां वचनामृतानि ।
विसस्मरुः स्वं मरुभूमिवासं,
यदा कदा वर्षति यत्र मेघः ॥

(५-६)

जिन्होंने धर्म की चोरी की है – जो अधार्मिक हैं, ऐसे दुष्ट जनों को जीतकर आए हुए गणिवर से धर्म-विजय सम्बन्धी सब वृत्तान्त सुन मंत्री श्री मगन मुनि इस प्रकार प्रसन्न हुए, जिस प्रकार शान्तिमयी सीता को हरने की धृष्टता करने वाले, कुटिल-प्रकृति, पुलस्त्य-पौत्र रावण आदि राक्षसों का वधकर लौटे हुए राम से विजय का सारा वृत्तान्त सुन भरत प्रसन्न हुए थे।

(७)

जिस प्रकार सब दिशाओं में अवगाहन करता हुआ सूर्य कहीं एक स्थान पर रुकता नहीं, उसी प्रकार आचार्यवर ने वहाँ (सरदारशहर) से विहार कर अन्यान्य स्थानों में पर्यटन किया और पुनः वहीं पधार कर चातुर्मासिक प्रवास किया।

(८)

सरदारशहर निवासी लोग बहुत समय पश्चात् प्राप्त मुनिगण के वचनामृत का अपने कर्णों द्वारा पान करते हुए यह भूल गये कि वे मरुभूमि के निवासी हैं, जहाँ यदा-कदा वृष्टि होती है। (क्योंकि उन्हें निरन्तर अमृत-वर्षा जो प्राप्त हो रही थी)।

(९)

ततश्चतुर्मासकृतिं कृतीशः,
समापयन् रत्नगढं प्रयातः ।
तत्रापि शोभां बहुशो विधाय,
गतः पुरं राजलदेसराह्वम् ॥

(१०)

यातस्ततः श्रीतुलसीमहर्षि-
र्गढान्तिमं डूंगरनामधेयम् ।
वितत्य तत्राप्युपकारकार्यं,
बीकादिनेरं नगरं प्रविष्टः ॥

(११)

तत्सन्निधिस्थं बहुभक्तिरक्तं,
गङ्गादिशब्दं शहरं मनोज्ञम् ।
संस्पृश्य पश्चात् कृतवान् प्रवेशं,
भीनासरे तन्निकटस्थिते च ॥

(१२)

विभिन्नसंज्ञाऽपि पुरत्रयीय-
मेकैव सर्वस्थितिभिः स्वकाभिः ।
मूर्त्तित्रयीवाच्च्य — विधातृविष्णु-
महेशरूपा श्रमणानुरूपा ॥

(९)

वहाँ चातुर्मास सम्पूर्णकर आचार्यवर रतनगढ़ गये। वहाँ धर्म की अभिवृद्धि कर राजलदेसर पधारे।

(१०)

वहाँ से डूंगरगढ़ पदार्पण हुआ। वहाँ लोगों को धर्मोपदेश द्वारा उपकृत कर वे बीकानेर पधारे।

(११)

बीकानेर के सन्निकटवर्ती, भक्तिरत गंगाशहर नामक सुन्दर शहर का संस्पर्श कर—कुछ समय वहाँ प्रवास कर उसके समीप ही स्थित भीनासर नामक शहर में पधारे।

(१२)

यद्यपि ये तीनों (बीकानेर, गंगाशहर, भीनासर) नाम से भिन्न-भिन्न हैं परन्तु सब बातों में एक जैसे हैं, जैसे पूजनीय ब्रह्मा, विष्णु और शिव नाम से पृथक्-पृथक् होते हुए भी वस्तुतः एक ही हैं। ये तीनों शहर साधु-चर्या-निर्वहण के लिए अनुकूल हैं।

(१३)

अस्यामवस्था अथ धर्मवर्षाः,
कुर्वन् विरामं मुनिपो न लेभे ।
साहित्यसद्दर्शनकाव्य — गोष्ठी-
र्विधापयामास विवेकवद्भिः ॥

(१४)

रथ्यासु रथ्यासु मुनीन् प्रहित्य,
धर्मप्रचारं बहु कारयित्वा ।
तपोधनस्तीव्रतपः — प्रभावा-
दचूचुरन्मानव — मानसानि ॥

(१५)

प्रस्थित्य बुद्धेर्जलधिस्ततोऽपि,
तत्पावदेश — स्थितदेशनोकम् ।
राजेन्द्रदेव्या वरमन्दिरेण,
विभूषिताङ्गं गतवांस्तदानीम् ॥

(१६)

ततोऽपि नोखामथ मुंडवादिं,
प्राप्तो वितन्वन् पथि धर्मचर्याम् ।
धर्मस्य तत्त्वं विविधप्रकारा-
ज्जिज्ञासुमुख्यान् मनुजाननुवाद ॥

(१३)

मुनिपति ने इन तीनों पुरियों में धर्म की वर्षा करते हुए जरा भी विराम नहीं लिया। वहाँ उनके सान्निध्य में विद्वानों ने साहित्य-सम्मेलन, दर्शन-सम्मेलन, कवि-गोष्ठी प्रभृति अनेक सांस्कृतिक कार्यक्रम आयोजित किये।

(१४)

गली-गली में मुनियों को भेज, धर्म-प्रसार करा, महातपा आचार्यवर ने मानों अपने तीव्र तप के प्रभाव से जन-जन का मानस चुरा लिया। अर्थात् जनता उनकी ओर अत्यधिक आकृष्ट हुई।

(१५)

बुद्धि के सागर आचार्यवर वहाँ से प्रस्थान कर, उनके समीपवर्त्ती देशनोक नामक शहर में पधारे, जो बीकानेर के राजन्यगण द्वारा पूजित श्री करणीजी के मन्दिर से सुशोभित है।

(१६)

वहाँ से प्रस्थान कर मार्ग में धर्ममय आचरण का प्रसार करते हुए गणिवर नोखा, मूंडवा आदि स्थानों में पधारे, जहाँ जिज्ञासु लोगों को अनेक प्रकार से धर्म का तत्व समझाया।

(१७)

अगादहिच्छत्रपुरं ततोऽग्रे,
नागौरनाम्ना जगति प्रसिद्धम् ।
यस्मिन्नभून्नाग—कुलोद्भवानां,
राज्यं समन्तादितिहाससिद्धम् ॥

(१८)

नागौर — सद्गौरवमूर्त्तरूपे,
स्थित्वा गणी दुर्गमदुर्गमध्ये ।
पापारिभिः सार्द्धमुपेत्य युद्धं,
प्राकाशयत् क्षत्रियजातिधर्मम् ॥

(१९)

ततश्चतुर्मासकृते तपस्वी,
पादार्पणं जोधपुरे व्यतानीत् ।
राठौरराजैर्विहिते पुराणे,
समागतैः कैश्चन कान्यकुब्जात् ॥

(२०)

विश्व — विद्यालयेऽध्यक्षो,
राजस्थान — विनिर्मिते ।
दर्शनस्य विभागस्य,
राजूपाधि — विभूषितः ॥

(२१)

निर्मितां गणिवर्य्येण,
जैनसिद्धान्त — दीपिकाम् ।
दुदोह दुग्धतत्त्वार्थी,
कामधेनुमिव स्वयम् ॥

(१७)

आचार्यवर वहाँ से आगे अहिच्छत्रपुर पधारे, जो आजकल नागोर के नाम से प्रसिद्ध है, जिसमें पूर्वकाल में नागवंशीय क्षत्रियों का राज्य था—यह इतिहास बताता है।

(१८)

आचार्यवर नागौर के मूर्तिमान् गौरवभूत वहाँ के दुर्ग में गये। वहाँ उन्होंने बताया कि क्षत्रिय-जाति का धर्म यह है कि वह पापरूपी शत्रुओं के साथ युद्ध करे।

(१९)

तब गणिवर चातुर्मासिक प्रवास के निमित्त प्राचीन नगर जोधपुर में पधारे। कन्नौज से आए हुए किन्हीं राठौर राजाओं ने जिसे बसाया था।

(२०-२१)

तत्वरूपी दूध प्राप्त करने के लिए राजस्थान-विश्वविद्यालय के दर्शन-विभाग के अध्यक्ष डा० पी० टी० राजू ने आचार्यवर द्वारा विरचित जैन सिद्धान्त दीपिका रूपी कामधेनु को दूहा। अर्थात् उन्होंने "जैन-सिद्धान्त-दीपिका" का अध्ययन किया।

(२२)

अणुव्रतोद्गते तत्र,
चतुर्थे चाधिवेशने ।
सैफूद्दीनाह्वयो धीमान्,
किचलूपाधि — भूपितः ॥

(२३)

राजनीतौ महाविद्वान्,
अन्ताराष्ट्र — विचारकः ।
समायातोऽन्य — विद्वत्सु,
समायातेषु केषुचित् ॥

(२४)

सर्वै — रणुव्रतेष्वेषु,
पूर्ण — शान्तिरवेक्षिता ।
एतद्विधान — माकर्ण्य,
ते ते हर्षमुपागताः ॥

(२२-२३)

वहाँ अणुव्रत आन्दोलन के चतुर्थवर्षीय अधिवेशन के अवसर पर राजनीति के महान् विद्वान्, अन्तर्राष्ट्रीय विचारक डा० सेफुद्दीन किचलू तथा और भी बहुत से विद्वान् पहुँचे।

(२४)

सभी ने अणुव्रत-नियमों में पूर्ण शान्ति की झलक देखी। अणुव्रत-आन्दोलन का विधान सुनकर वे सब बहुत हर्षित हुए।

(२५)

ततश्चतुर्मासविधौ व्यतीते,
पूज्यो वरव्यावरमाजगाम ।
लोकैरनेकैः कृतपूर्णसेवो,
धर्मप्रचारं कृतवाननन्तम् ॥

(२६)

उपाध्युपाध्यायपदं दधानो,
मुख्योऽपि मन्त्री हरिभाउनामा ।
सुस्वागतं तस्य चकार भूरि,
देशप्रसिद्धो दृढगान्धिवादी ॥

(२७)

शिक्षास्थमन्त्री बुधवृन्दगण्यो,
व्रजादिमो मोहनलालशर्मा ।
अध्यात्मवादं प्रणिशम्य सम्यक्,
परं प्रसन्नो झटिति प्रजातः ॥

(२८)

ततोऽपि कृत्वा मतिमान् विहार-
मरावलीपर्वत — मस्तकस्थम् ।
अंग्रेजराज्योद्भव — मीक्षणीय-
मटाट्यया टाड्गढं प्रयातः ।

(२५)

चातुर्मास परिसम्पन्न कर आचार्यवर ब्यावर नामक समृद्ध नगर में पधारे। अनेक लोगों ने उनकी सेवा की—उनके सत्संग का लाभ लिया। आचार्यवर जनता में धर्म का प्रचार करते रहे।

(२६)

देश के प्रमुख गाँधीवादी विचारक, अजमेर राज्य के मुख्यमंत्री श्री हरिभाऊ जी उपाध्याय ने वहाँ आचार्यवर का भूरि-भूरि स्वागत किया।

(२७)

विद्वानों में गिनने योग्य, अजमेर राज्य के शिक्षा-मंत्री श्री ब्रजमोहनलालजी शर्मा आचार्यवर से अध्यात्मवाद के सम्बन्ध में सम्यक्तया सुन बहुत प्रसन्न हुए।

(२८)

वहाँ से विहार कर आचार्यवर अरावली पर्वत के शिखर पर स्थित, अंग्रेजी राज्य में जिसका उद्भव हुआ था (कर्नल टॉड के नाम पर इसे बसाया गया था) उस टॉडगढ़ नामक स्थान में पधारे, जो (अपने प्राकृतिक सौन्दर्य के कारण) दर्शनीय है।

(२९)

स सत्कृतः कैश्चन राजकीयैः,
प्रभावशालि — प्रवरैरनेकैः।
दीवेरधाम्नि प्रकट — प्रतापः,
स्थित्वा ततोऽपद्यत मेदपाटम्॥

(३०)

मदारियादेवगढ पुरेऽग्र,
दीक्षा — समारोहमहोत्सवोऽभूत्।
चूंडावता सुन्दरलेखिकाग्रा,
लक्ष्मीकुमारी विदुषी च राज्ञी॥

(३१)

अकारयद् भक्तिभृदग्रण्या,
धर्मप्रसारं सदने स्वकीये।
ततो गणी माघमहोत्सवाय,
राणादिवासं सुखतः प्रतस्थे॥

(२६)

वहाँ अनेक प्रभावशाली राजपुरुषों ने उनका सत्कार किया। वहाँ से चलकर प्रतापवान् आचार्यवर दीवेर नामक गांव में आए। वहाँ कुछ समय प्रवास कर मेवाड़ पधार गये।

(३०-३१)

मेवाड़-स्थित देवगढ़ मदारिया में दीक्षा-महोत्सव सम्पन्न हुआ वहाँ के रावजी की वहिन, हिन्दी की प्रमुख लेखिका, विदुषी, अत्यन्त भक्तिशीला रानी लक्ष्मी कुमारी चूंडावत (रावतसर) ने राज-प्रसाद में आचार्यवर का प्रवचन करवाया। तत्पश्चात् गणिवर ने मर्यादा-महोत्सव के लिए राणावास की ओर प्रस्थान किया।

(३२)

प्रगुम्फितै रङ्गिविरङ्गि — पुष्पैः,
श्यामायमानैर्बहुभि — र्द्विरेफैः ।
लम्बायमानैर्ललितै — र्विलोलै-
र्लतासमूहैरिव केशपाशैः ॥

(३३)

अन्तः स्थितात्युद्गतकृष्णमध्यै-
र्विकासमाप्तै — स्तरलैर्विशालैः ।
विलोकयद्भिस्त्वनिमेष — भावैः,
सरोजवृन्दैरिव नेत्रयुग्मैः ॥

(३४)

स्निग्धैर्विशुद्धैरिव गौरवर्णैः,
शिलासमूहैर्गठिताङ्ग — वर्यैः ।
शुभ्रैः प्रसूनैरिव मन्दहास्यैः,
रक्तैरथो बिम्बफलैरिवोष्ठैः ॥

(३५)

सुप्रार्थयन्तीव विहङ्गशब्दैः,
स्रोतःसहस्रै रुदतीव भूयः ।
संकोचिमार्गोभयतः शिलाग्रै-
रिव स्वहस्तैः परिरोद्धुकामा ॥

(३६)

अधित्यका सुन्दर — कामिनीव,
शशाक रोद्धुं न च योगिनं तम् ।
उपत्यकामप्यथ गाहमानो,
राणादिवासं झटिति प्रपेदे ॥

(३२-३६)

अधित्यका (पर्वत की ऊपरी घाटी)रूपी कामिनी, रंग-बिरंगे फूलों से गूँथे हुए, भौंरों के कारण काले, लम्बे, सुन्दर, चंचल लता समूह ही जिसका केश पाश है, भीतर-स्थित भौंरों के कारण जिनका मध्य भाग काला हो गया है, भौंरे मानो जिनकी कनीनिकाएं हैं, ऐसे विकसित, चञ्चल, विशाल, कमल—जिसके निर्निमेष भाव से देखते नेत्र हैं, जिसका स्निग्ध, स्वच्छ और गौर वर्ण है, शिलाओं के समूह ही जिसके सुगठित अंग हैं, उज्ज्वल पुष्प जिसका मन्द हास्य है, लाल बिम्ब फल ही जिसके ओष्ठ हैं, योगिवर्य आचार्य श्री तुलसी को पक्षियों के शब्दों के मिष जो मानों रुकने की प्रार्थना कर रही हैं, (न रुकने पर) सहस्रों झरनों के रूप में जो रुदन कर रही है, संकड़े मार्ग में दोनों ओर निकले शिलाओं के अग्रभाग के मिष से जो मानों अपने हाथ फैला उन्हें रोकना चाहती है पर वह उन्हें रोक नहीं सकी।

आचार्यवर अधित्यका को पारकर उपत्यका का अवगाहन करते हुए—वहाँ से गुजरते हुए शीघ्र ही राणावास पहुँच गये।

(३७)

भक्तैर्जनैर्माघ — महोत्सवस्य,
शोभा प्रशस्ता द्विगुणा व्यधायि ।
संपाद्य भिक्षोर्नगरं नवीनं,
वंशैश्च पर्णैश्च विचित्ररूपम् ॥

(३८)

उपस्थिते साधुसतां — समाजे,
आचार्यवर्येण विदांवरेण ।
लोकैरसंख्यैर्जयकार — शब्दै-
र्विघोष्यमाणो विहितो विधिः स्वः ॥

(३९)

राजस्थलस्योत्तम — मुख्यमन्त्री,
व्यासो बुधः संमिलितो बभूव ।
क्रियां समस्तां सुखतः समाप्य,
स गुर्जरं देशमतो जगाम ॥

---

(३७)

भक्तिमान् लोगों ने बाँसों और पत्तियों से नवीन भिक्षु नगर का निर्माण कर मर्यादा-महोत्सव की शोभा को दुगुना कर दिया।

(३८)

साधु-साध्वीगण उपस्थित था, असंख्य लोग जय-घोष कर रहे थे, ऐसे कमनीय दृश्य के मध्य विज्ञवर आचार्यप्रवर ने मर्यादा-महोत्सव की विधि परिसम्पन्न की।

(३९)

राजस्थान के मुख्यमन्त्री श्री जयनारायण व्यास भी वहाँ आये। आचार्यवर ने महोत्सव सम्बन्धी सारे कार्य आनन्दपूर्वक सम्पन्न कर गुजरात की ओर प्रस्थान किया।

ओम्

अथैकविंशत्तमः सर्गः

(१)

अथो जगुर्गुर्जरनिर्जरार्थं,
तद्वासिनः पूज्यपदाब्जकीर्त्तिम् ।
योगीश्वराणां गुणगानहेतो-
र्नश्यन्ति पापानि पुरा कृतानि ॥

(२)

ततो गणीशः शिवगञ्जमेत्य,
कृत्वा प्रचारं नगरं सिरोहीम् ।
गत्वा ततोऽप्यर्बुदपर्वतस्य,
त्वरोपरिष्टाद् गतवान् मनीषी ॥

३)

महान्महन्ताह्वय — रामशोभा-
दासो गुरुर्वैष्णवसंप्रदायी ।
अन्यैर्मनुष्यैर्बहुभिः समेतः,
सुस्वागतं कारितवांस्तदानीम् ॥

(४)

कार्यक्रमं तत्र विधाय पूर्ण,
दृष्ट्वा कलापूर्णसुमन्दिराणि ।
ततः पुरं पालननामधेयं,
डीसाथरादींश्च जगादियाय ॥

(१)

गुजरात-निवासी अपने प्रदेश के कल्मष-निर्जरण—आध्यात्मिक अभ्युदय का अभिप्रेत लिए आचार्यवर के चरण-कमलों का यशोगान करते थे। यह यथार्थ ही है, योगीश्वरों के गुणगान से पाप नष्ट हो जाते हैं।

आशय यह है, गुजरात-निवासी आचार्यवर से गुजरात-पदार्पण के लिए पहले से ही प्रार्थना करते आ रहे थे।

(२)

महामनीषी आचार्यवर अपने विहार-क्रम के मध्य शिवगंज, सिरोही आदि होते हुए, धर्म-प्रसार करते हुए आबू पर्वत पर पधारे।

(३)

वहाँ वैष्णव सम्प्रदाय के एक प्रमुख आचार्य महन्त श्री रामशोभादासजी ने अन्य अनेक लोगों के साथ आचार्यवर का स्वागत किया।

(४)

वहाँ के कार्यक्रम सम्पन्न कर, कलापूर्ण सुन्दर मन्दिर देख, वहाँ से शीघ्र ही वे पालनपुर, डीसा, थराद आदि स्थानों में पधारे।

(५)

गृहस्थसम्बन्धनिबद्ध — बन्धान्,
विधाय संघस्य विरोधिवृद्धाः ।
यान् धर्मतो न स्खलयाम्बभूवु-
स्तच्छ्रावकानां स्वपुरेऽथ बावे ॥

(६)

गत्वा जनानां हृदयाम्बुजानां,
चक्रे विकासं गणितिग्मरश्मिः ।
राजा तदानीं हरिसिंहनामा,
सेवामकार्षीद् गणिनः प्रहृष्टः ॥

(७)

ततः पुरे राधननामधेये,
आराधनां तस्य जना वितेनुः ।
अणुव्रतानां महिमानमेत्य,
सर्वे प्रसन्ना गुणिनो बभूवुः ॥

(८)

ततो गतो वीरमगांवमध्ये,
सानन्दसाणन्दपुरे ततश्च ।
यातो महात्माऽहमदाबादे,
पुरे विशाले शुभधर्मसिध्यै ॥

(५-६)

विरोधियों द्वारा यहाँ तक जातीय प्रतिबन्ध लगा दिये गये थे कि तेरापंथियों के यहाँ कोई भी विवाह-सम्बन्ध न करे पर ये प्रतिबन्ध भी जिन्हें धर्म से स्खलित—विचलित नहीं कर सके, आचार्यवर ने उन दृढ़धर्मा श्रावकों के निवास-स्थान वाव नामक शहर में पधारकर लोगों के हृदयों को इस प्रकार विकसित किया, जिस प्रकार सूर्य कमलों को विकसित करता है। वाव के राणा हरिसिंहजी ने अत्यन्त प्रसन्न हो गणिवर की सेवा की—सत्संग-लाभ लिया।

(७)

वहाँ से आचार्यवर राधनपुर पधारे, जहाँ लोगों ने उनके प्रति हार्दिक भक्ति प्रदर्शित की। अणुव्रतों की महत्ता को जान सभी गुणग्राही जन बहुत आनन्दित हुए।

(८)

वहाँ से वीरगाँव, सांणद आदि होते हुए आचार्यवर धर्म-साद्ध- अध्यात्म-प्रसार के लिए अहमदाबाद नामक विशाल नगर में पधारे।

(९)

तद्गुर्जरप्रान्त — गतैर्मनुष्यैः,
श्रद्धानदीस्नान—विनिर्मलाङ्गैः।
अतीत्य संख्यां सहितैः कुटुम्बैः,
समागतैः पूज्यवरो न्यपेवि ॥

(१०)

उच्छृङ्गरायः सुकृताभिलाषी,
सौराष्ट्रदेशस्य च मुख्यमंत्री।
अध्यात्मचर्चां गणिनः समीपे,
विधाय जातो बहुशः प्रसन्नः ॥

(११)

अणुव्रतानां शिवदायकाना-
माकर्ण्य सर्वान् नियमान् पवित्रान्।
स ज्ञातवानात्मसुधारकार्ये,
प्रवर्तमानं प्रथमं प्रयासम् ॥

(१२)

रजोऽपि सौराष्ट्रवसुन्धरायाः,
कार्यं पवित्रं चरणारविन्दैः।
इति ब्रुवन् स स्वकदेशहेतो-
र्निमन्त्रयामास गणीन्द्रवर्यम् ॥

(९)

श्रद्धारूपी नदी में स्नान कर निर्मल बने गुजरात-वासियों ने सपरिवार अत्यधिक संख्या में आ, आचार्यवर के सत्संग का लाभ लिया।

(१०)

धर्मानुरागी, सौराष्ट्र के मुख्यमन्त्री श्री उच्छृंगराय नवलशंकर ढेबर वहाँ आचार्यप्रवर के संपर्क में आये। आचार्यप्रवर के साथ अध्यात्म-चर्चा कर वे बहुत प्रसन्न हुए।

(११)

उन्होंने श्रेयस्कर अणुव्रतों के पवित्र नियमों को सुना, आत्म-सुधार के कार्य में उन्होंने इस उपक्रम को प्रथम—मुख्य प्रयास माना।

(१२)

"अपने चरण-कमलों से सौराष्ट्र-भूमि को भी पवित्र करें" यों कहते हुए उन्होंने आचार्यप्रवर को अपने प्रदेश में पदार्पण करने का आमंत्रण दिया।

(१३)

ततो मनीषी नडियादसंज्ञ-
मानन्दसंज्ञं च पुरं अजित्वा।
अभ्यर्थ्यमानो बहुभिः प्रविष्टो,
बृहद् — वडौदानगरेऽग्रगण्ये ॥

(१४)

शिक्षा - प्रसङ्गेऽप्यनवीनकाला-
दत्युन्नतं गायकवाड़राज्यम् ।
तद्राजधानीति बभूव पूर्वं,
सरस्वतीं स्वात्मनि वाहयन्ती ॥

(१५)

साहित्यपाथोनिधि —मज्जितानां,
विद्याम्बुदानां विदुषां सभायाम् ।
कार्यक्रमः संस्कृतभाषणेन,
संपन्नवान् पूज्यपदाधिपत्ये ॥

(१६)

अखण्ड — पाण्डित्यमगाधमेतद्,
विज्ञाय विज्ञा मुनिमाननीये ।
वाग्देवतां तीव्रतपस्ययाऽपि,
सार्द्धं वसन्तीं नितरामपश्यन् ॥

(१३)

तदनन्तर मनीषि-प्रवर आचार्य श्री नडियाद, आनन्द आदि स्थानों में होते हुए सुप्रसिद्ध बड़ौदा नामक नगर में पधारे।

(१४)

गायकवाड़ राज्य पहले से ही शिक्षा में बहुत उन्नत रहा है। जिसके अन्तरतम में सरस्वती मानो प्रत्यग्रशीला है, ऐसा यह बड़ौदा नगर गायकवाड़ राज्य की राजधानी था।

(१५)

वहाँ (गायकवाड़ ऑरिएन्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट में) साहित्यरूपी समुद्र में स्नान किए हुए, विद्या के मेघ रूप विद्वानों की सभा में, जो आचार्यवर के सान्निध्य में आयोजित थी, सारा कार्यक्रम संस्कृत भाषा में चला।

(१६)

विद्वानों ने श्रमणाधिपति आचार्यवर का अगाध पाण्डित्य देख यह अनुभव किया कि इनमें तीव्र तपस्या के साथ-साथ वाग्देवता—सरस्वती-विद्या भी निवास करती है। अर्थात् इनके जीवन में तपस्या और विद्या एक सुन्दर संगम है।

(१७)

अध्यात्मवादं नृपु निर्विवादं,
प्रसार्य शान्तेः सफलोऽग्रदूतः ।
मुम्बापुरीं यातुमना विहारं,
झटित्यकार्षीत् गुणिपूजितांघ्रिः ॥

(१८)

अजस्रमोधौतपथेषु यस्याः,
मनो मलं नो मलिनीकरोति ।
जलप्रणाल्यः सलिलप्रदाने,
यस्यां सदैवानलसा भवन्ति ॥

(१९)

यदीयदीर्घायत — राजमार्गा-
स्तृप्यन्ति नासंख्यजनैरपि स्वम् ।
न कुम्भकर्णस्य गभीरकर्णौ,
तृप्तौ प्रविष्टैरपि भूरिकीशैः ॥

(२०)

न संभवा वा विभवा यदीयाः,
संख्यातुमर्हाः पुरुषैः कदापि ।
रत्नाकरो यर्हि सदा यदीय-
पादाम्बुजं क्षालयति स्वहस्तात् ॥

(१७)

शान्ति के सफल अग्रदूत, गुणिजनों द्वारा सत्कृत आचार्यवर ने जन-जन में निर्द्वन्द्व अध्यात्मवाद का प्रसार कर बम्बई जाने का लक्ष्य लिए वहाँ से शीघ्र विहार किया।

(१८)

आचार्यवर अनेक लोगों के साथ बम्बई पधारे, जिसके अनवरत धोये जाते मार्गों में मल—गन्दलापन कभी भी मन को मलिन नहीं करता अर्थात् जहाँ जरा भी गन्दगी नहीं है, जिसमें पानी की नालियां—नल सदा आलस्यरहित रहते हैं अर्थात् जहाँ चौबीसों घण्टे पानी के नल चलते रहते हैं।

(१९)

जिसके लम्बे-चौड़े राज मार्ग असंख्य जनों से भी कभी भरते नहीं, जिस प्रकार कुम्भकर्ण के बहुत बड़े कान अनेक बन्दरों से भी भरे नहीं थे। अर्थात् जहां के राजमार्ग इतने विशाल हैं कि असंख्य लोगों का यातायात होने से भी वहाँ भीड़ नहीं होती, जिस प्रकार राम-रावण के युद्ध में कुम्भकर्ण जब युद्ध भूमि में आया तो अनेक बन्दर उसके कानों में घुस गये पर वे (कान) इतने बड़े थे कि उनसे भरे नहीं।

(२०)

रत्नाकर—रत्नों का आकर—समुद्र अपने हाथों—लहरों से जिसके चरण-कमलों का प्रक्षालन करता रहता है, उसके वैभव की गणना मनुष्य कैसे कर सकते हैं ?

(२१)

स्तम्भोऽस्मदीयः कविभिर्गृहीतो,
विलासिनीना — मुपमार्थमूरोः ।
वयं कथन्नेति विभावयन्ति,
कदाग्रहं यत्कदलीदलानि ॥

(२२)

अंग्रेजराज्यस्य परा विभूति-
र्धात्रा स्वयं या रचितेव भाति ।
गायन्ति कीर्त्ति ध्वनिभिर्यदीयां,
पोता विमानानि च मोटराणि ॥

(२३)

दूरात्प्रदेशाद् बहवोऽपि यस्याः,
आगत्य वित्तानि हरन्ति शीघ्रम् ।
तथाऽपि संयाति न रिक्ततां या,
विद्याहृतेः पण्डितमण्डलीव ॥

(२४)

नार्यो यदीया मुखमुज्ज्वलं स्वं,
नावारयन्ति त्ववगुण्ठनेन ।
प्रकाशमानं शरदः शशांकं,
वलाहकानां पटलैरिवान्धैः ॥

(२१)

जहाँ केलों के पत्र हिल-हिलकर मानो यह उपालम्भ दे रहे हैं कि कवियों ने हमारे स्तम्भ को तो नारियों के ऊरु—जंघा को उपमा देने के लिए ग्रहण कर लिया पर हमें क्यों नहीं ग्रहण किया ? अर्थात् बम्बई में केलों का आधिक्य है। जहाँ कहीं जाते हैं, केले ही केले दिखाई देते हैं।

(२२)

जो (बम्बई) अंग्रेजी राज्य की उत्तम विभूति है—(बम्बई का निर्माण अंग्रेजों ने किया था), ऐसा प्रतीत होता है मानो ब्रह्मा ने स्वयं इसकी रचना की हो ; मोटर, जल-जहाज और हवाई-जहाज मानो जिसका कीर्ति-गान कर रहे हैं।

(२३)

अनेक दूरवर्ती स्थानों से आ-आकर लोग जिसका धन हर ले जाते हैं पर फिर भी जो कभी खाली नहीं होती, जिस प्रकार विद्वान् दूसरों द्वारा विद्या लिये जाते रहने पर भी कभी विद्या से रिक्त नहीं होते। तात्पर्य यह है कि बम्बई में व्यापार के निमित्त दूर-दूर के स्थानों के लोग रहते हैं, धनार्जन करते हैं।

(२४)

जिस प्रकार शरद् ऋतु का ज्योतिर्मय चन्द्रमा अन्धे-धुंधले मेघों से ढका नहीं होता, उसी प्रकार जहाँ की नारियों का उज्ज्वल मुंह घूंघट से ढका नहीं रहता अर्थात् जहाँ घूंघट पर्दा—प्रथा नहीं है।

(२५)

गतेषु गौरेष्वपि तत्स्वभाषा-
जारैस्तदीयैः कृतपक्षपाता ।
विबाधते संस्कृतपूर्वभाषां,
गृहे गृहे नृत्यति वीतलज्जा ॥

(२६)

मुम्बापुरीं तामथ बम्बई वा,
लोकैरसंख्यैः सममाजगाम ।
जयेद् गणीशस्तुलसीति—शब्दै-
राध्वन्यमाने गगने समग्रे ॥

(२७)

यथा पुरीयं महती जगत्यां,
तथाऽधुना कोऽपि महान् महात्मा ।
समागतो यस्य पदाब्जधूल्या,
मनोरथः पूर्त्तिमुपैति पुंसाम् ॥

(२८)

शापादहिल्याऽपि गता शिलात्वं,
विश्रूयते रामपदाभिघातात् ।
स्त्रीत्वं पुनः प्राप मुनिप्रसादात्,
तथा वयं स्याम पुनः पवित्राः ॥

(२५)

अंग्रेज चले गये पर उनकी भाषा अब भी अपने उपपतियों द्वारा आदृत है। वह संस्कृत को, जो भारत की प्राचीन भाषा है, उत्पीड़ित करती है और निर्लज्ज हो घर-घर में नाचती है। अर्थात् जहां अंग्रेजी का आज भी बहुत प्रचार है।

(२६)

आचार्यवर जब अनेक लोगों के साथ बम्बई में पधारे तब लोगों द्वारा उच्चरित "आचार्य श्री तुलसी की जय" प्रभृति नारों से गगन-मण्डल गूंज उठा।

(२७)

"जगत् में यह नगर जैसा महत्वपूर्ण है, वैसा ही कोई एक महापुरुष यहाँ आये हैं, जिनके चरण-कमलों की रज से मनुष्यों के मनोरथ पूर्ण हो जाते हैं।

(२८)

अहिल्या, जो अपने पति गौतम के शाप से शिला बन गई थी, सुना जाता है—राम के चरण-स्पर्श से वह पुनः नारी हो गई। उसी प्रकार हम लोग भी उन (आचार्यवर) के प्रसाद—अनुग्रह से पवित्र हो जायेंगे।"

(२९)

एवं मिथो भूरिजना वदन्तो,
विधाय संघं मुनिदर्शनाय।
उपस्थिताः पावनमूर्त्तिमैक्ष्य,
जाता समस्ता झटिति प्रसन्नाः ॥

(३०)

अध्यात्मकार्यक्रम — योजनाभि-
र्बभूव लिप्तः समये समस्ते।
दिनस्य सर्वत्र परिक्रमाभि-
र्युक्तोऽशुमालीऽव गणाधिराजः ॥

(३१)

विद्यार्थिनां जीवनशुद्धिकार्य,
साप्ताहिकस्य क्रमतोऽजनिष्ट।
अणुव्रतानामधिवेशनं च,
जातं विशिष्टं नगरानुकूलम् ॥

(३२)

उद्घाटनं तस्य च मुख्यमंत्रि-
मुरारजी — पाणियुगेन जातम्।
समागतानामथ सज्जनानां,
सुस्वागतं तन्निगमो व्यतानीत् ॥

(२६)

आपस में यों कहते हुए अनेक व्यक्ति आचार्यवर के दर्शन के लिए सामूहिक रूप में आये, आचार्यप्रवर की पवित्र मूर्ति देख वे अत्यन्त प्रसन्न हुए।

(३०)

वहाँ अध्यात्म-प्रसार मूलक कार्यक्रमों में आचार्यवर इस प्रकार व्यस्त रहते, जिस प्रकार सूर्य दिन की परिक्रमा में—गगन-पथ पर चलते रहने में व्यस्त रहता है।

(३१)

वहाँ विद्यार्थी-जीवन-निर्माण-सप्ताह का महत्वपूर्ण कार्यक्रम चला। नगर के गौरव के अनुरूप अणुव्रत-आन्दोलन का अधिवेशन भी वहाँ विशिष्ट रूप में सम्पन्न हुआ।

(३२)

अणुव्रत-आन्दोलन के अधिवेशन का उद्घाटन बम्बई के तत्कालीन मुख्य-मंत्री श्री मोरारजी देसाई ने किया। अधिवेशन में आये हुए सज्जनों का स्वागत नगर-निगम के अध्यक्ष ने किया अर्थात् नगर-निगम के अध्यक्ष श्री डाह्या भाई पटेल उस अधिवेशन के स्वागताध्यक्ष थे।

(३३)

अध्यात्मसम्बद्धविधौ समस्ते,
गणीन्द्रसान्निध्यमुपेत्य जाता।
उपस्थितिर्भारत — मुख्यमुख्य-
विद्वद्वराणां जिनशास्त्रगानाम् ॥

(३४)

अमेरिकाया विदुषां वरिष्ठाः,
ब्राउन्युतो नोरमनो मनस्वी।
ल्यूड़ो — वलंवर्गसुमौरराख्च,
समागता—स्तत्त्वमभीप्सवोऽथ ॥

(३५)

यीशुमसीहोद्भव — मन्दिराणा-
मुच्चाधिकारी विलियम्ससंज्ञः।
कृतादरः फादर — इत्युपाधि-
विभूषितो विज्ञवरः समागात् ॥

(३६)

विद्याम्बुधेर्नोरमनस्य यत्नात्,
प्रवर्तिता संस्कृतवर्यगोष्ठी।
तद्ब्राउनस्यैव महानुरोधात्,
श्रीनत्थमल्लो गणिमुख्यशिष्यः ॥

(३७)

अनेकशास्त्रार्थ — विचारदक्षो,
महोत्तमप्राकृत — भाषणस्य।
धाराप्रवाहेण जिनादिकालं,
संजीवयामास पुनर्धरित्र्याम् ॥

(३३)

अध्यात्म सम्बन्धी विषयों को लेकर आचार्यवर के सान्निध्य में भारत के मुख्य-मुख्य जैन-शास्त्र-वेत्ता विद्वान् वहाँ उपस्थित होते रहे।

(३४)

तत्त्व-जिज्ञासु अमेरिका-निवासी डा० नौरमन ब्राउन, डा० बलम्बर्ग, डा० मौरर, डा० ल्यूडो (बेल्जियम) प्रभृति विद्वान् आचार्यवर के सम्पर्क में आये।

(३५)

ईसाई धर्म के चर्च के उच्च अधिकारी विद्वद्वर फादर डा० जे० विलियम्स आचार्यवर की सेवा में उपस्थित हुए।

(३६-३७)

विद्या के सागर डा० 'नोरमन ब्राउन' के अनुरोध से आचार्यवर के सान्निध्य में संस्कृत-गोष्ठी का आयोजन हुआ, जिसमें आचार्यवर्य के प्रमुख अन्तेवासी, अनेक शास्त्रों के मर्मवेत्ता मुनि श्री नथमलजी ने प्रांजल प्राकृत में धाराप्रवाह भाषण करते हुए पुनः जैन परम्परा के आदि काल को मानो जीवित कर दिया (जब प्राकृत भाषा का सार्वत्रिक प्रचलन था)।

(३८)

आचार्यवर्यो वरसंस्कृतेन,
सधातुसप्रत्यय — सन्धिकेन ।
समासकृत्तद्धित — संयुतेन,
तत्रैव धारानगरीमकार्षीत् ॥

(३९)

अणुव्रतं स्वीकृतवान् मनस्वी,
पूर्वोदितः श्रीविलियम्ससंज्ञः ।
अन्येऽपि सत्सत्त्वगुणैर्विशिष्टा-
स्तत्स्वीकृतौ नालसतां प्रणिन्युः ॥

(४०)

एवं चतुर्मासविधिं क्रमेण,
महोत्सवं माघगतं समाप्य ।
अग्रे विहारं कृतवांस्तपस्वी,
सर्वत्र कुर्वंश्च परोपकारम् ॥

(३८)

आचार्यवर ने धातु, प्रत्यय, सन्धि, समास, कृदन्त व तद्धित मय प्रयोगों से युक्त सुन्दर संस्कृत में भाषण करते हुए वहीं मानो (भोज की) धारा नगरी की अवतारणा कर दी।

(३९)

पूर्वोक्त फादर डा० जे० विलियम्स ने अणुव्रत-नियम स्वीकार किये, अन्यान्य सात्विक व्यक्तियों ने भी अणुव्रत स्वीकार करने में आलस्य नहीं दिखाया।

(४०)

इस प्रकार बम्बई में अपना चातुर्मासिक प्रवास तथा मर्यादा-महोत्सव सम्पन्न कर महातपा आचार्यवर सर्वत्र जन-जन का उपकार करते हुए अपने विहारानुक्रम से आगे बढ़े।

ओम्

अथ द्वाविंशत्सर्गः

(१)

उड्डीयमानो विहगो न कल्प-
वृक्षाधिपस्याऽपि करोत्यपेक्षाम् ।
मुम्बापुरीं स्वर्गपुरीसमानां,
त्यजन् विलम्बं कृतवान्न वाग्मी ॥

(२)

मुलुण्डथानादिषु स व्रतीशो,
विज्ञापयामास शिवाय मार्गम् ।
तत्राऽपि थानानगरे विशेषा-
दभूत् प्रचारो जिनसंस्कृतीनाम् ॥

(३)

श्रीयुक्तजैनागम — तत्त्ववेत्ता,
हीरादिलालो विबुधो गरीयान् ।
गणीन्द्र — संदर्शितमार्गमेव,
समार्थयत् सुन्दरभाषणेन ॥

(४)

अन्याः सभा अप्यतितत्त्वपूर्णाः,
लताः सपुष्पा इव वृक्षराजम् ।
समाश्रयन् पूजितपाद — युग्मं,
तपस्विनं श्रीतुलसीगणीन्द्रम् ॥

(१)

उड़नेवाला पक्षी कल्प-वृक्ष की भी परवाह नहीं करता। जब उड़ना होता है, झट उड़ जाता है। उसी तरह आचार्यप्रवर ने स्वर्ग समान बम्बई को छोड़ने में जरा भी विलम्ब नहीं किया।

(२)

उन्होंने मुलुंड, थाना आदि स्थानों में लोगों को श्रेयस् का पथ दिखलाया। उनमें भी थाना शहर में विशेप रूप से जैन संस्कृत का प्रचार हुआ।

(३)

जैन आगमों के तत्ववेत्ता, प्रखर विद्वान् डा० हीरालालजी जैन ने (जो थाना में आचार्यवर के सान्निध्य में आयोजित जैन संस्कृति सम्मेलन में विशेष रूप से उपस्थित थे) आचार्यप्रवर द्वारा (जैन एकता के लिए) संदर्शित पथ का अपने विवेचनापूर्ण भापण में समर्थन किया।

(४)

अन्यान्य तात्त्विक गोष्ठियों ने भी तपोनिधि आचार्यवर का इस प्रकार आश्रय लिया, जिस प्रकार पुष्पवती लतायें वृक्ष का आश्रय लेती हैं। अर्थात् वहाँ आचार्यवर के सान्निध्य में और भी अनेक तात्विक गोष्ठियाँ समायोजित हुईं।

(५)

पूनामनूनामुपकार — हेतोः,
पुरीं प्रसिद्धां बुधवृन्दपूर्णाम् ।
समाययौ सर्वसमानरूपो,
भूपोपरिस्थैर्नत — पादयुग्मः ॥

(६)

पौरा महापौरमहोदयश्च,
शिक्षानिषेवी बहुवृद्धकर्वैः ।
दाण्डेकरो डाक्टरनामधेय-
स्तस्या—भ्यकुर्वन्नभिनन्दनानि ॥

(७)

महत्वपूर्णाः परिषद्विशेषाः,
अनेकशः संस्कृतसंस्कृताज्ञाः ।
आचार्य—सान्निध्यमथाऽभ्युपेताः,
अगाध—पाण्डित्यमवेतुकामाः ॥

(८)

सर्वे प्रसन्ना अभवन् सभास्थाः,
गणेशितुः संस्कृतपारगस्य ।
माधुर्यधुर्याऽद्भुत — संस्कृतस्य,
धाराप्रवाहोपम — भाषणेन ॥

(५)

आचार्यवर, जिनके चरणों में राजाधिराज भी नत रहे हैं, जो सबके प्रति समान दृष्टि रखते हैं, विशेष उपकार की भावना लिए पूना पधारे, जो अत्यन्त प्रसिद्ध है और विद्वानों से परिपूरित है।

(६)

पूना के नागरिकों, महापौर उरसल, शिक्षासेवी वयोवृद्ध डा० कर्वे, डा० दाण्डेकर आदि ने आचार्यवर का अभिनन्दन किया।

(७)

वहाँ आचार्यवर के सान्निध्य में अनेक उच्चस्तरीय संस्कृत-गोष्ठियाँ हुईं, जहाँ अगाध पाण्डित्य के दर्शन होते थे।

(८)

सभा-स्थित सभी लोग संस्कृत के पारगामी आचार्यवर के मधुरतापूर्ण, अद्भुत व धाराप्रवाह संस्कृत-भाषण से आह्लादित हुए।

(९)

अदृष्टपूर्वे कठिनप्रसंगे,
तैस्तैर्बुधैस्तत्क्षण एव दत्ते।
तत्पूरणायाशु — कवित्वरूपात्,
समुत्थितो नत्थमलो व्रतीतः ॥

(१०)

वसन्तमासाद्य यथा तरुभ्यः,
पतन्ति पत्राणि विनाऽन्तरेण।
मुनेर्मुखादाशु — कवित्वमाप्य,
जातस्तथा संततपद्यपातः ॥

(११)

विद्याचमत्कारमिमं मुनीनां,
विलोक्य तत्पण्डितसर्ववर्गः।
मेने विरामं मुनिसंघमध्ये,
वाग्देवताया इव आगतायाः ॥

(१२)

अवागमन् केचिदणुव्रतानां,
सिद्धिप्रकारं भुवि वल्लभानाम्।
विद्वज्जनाः सात्त्विकवृत्तियुक्ताः,
मुनीश्वरेभ्योऽथ महाव्रतिभ्यः ॥

(९)

जो पहले दृष्टिगत नहीं हुए थे, विद्वानों द्वारा तत्क्षण दिये गये (विषय-रूप एवं समस्या-रूप) कठिन प्रसंगों पर आशु कविता करने के लिए आचार्यवर के अन्तेवासी मुनि श्री नथमलजी खड़े हुए।

(१०)

वसन्त ऋतु को पाकर जैसे वृक्षों से निरन्तर पत्ते झड़ने लगते हैं, वैसे ही मुनिश्री नथमलजी के मुख से आशु कविता के रूप में निरन्तर पद्य निकलने लगे।

(११)

मुनियों का यह विद्या-चमत्कार देख, वहाँ के सभी वर्गों के विद्वानों ने अनुभव किया कि वाग्देवता—सरस्वती स्वर्ग से अवतरित होकर मानो इस मुनि संघ में ही ठहर गयी हों। अर्थात् मुनिगण की विद्वत्ता से वहाँ के लोग बड़े प्रसन्न एवं आश्चर्यान्वित थे।

(१२)

कई-एक सात्विकवृत्ति के विद्वानों ने महाव्रत-साधना में लगे मुनियों से अणुव्रत-साधना का विधिक्रम समझा।

(१३)

सत्यादहिंसा गुरुतो गिरीणां,
गंगेव पुंसां मलशोधनाय।
उत्पद्यते तेन जनैरुपास्यं,
सत्यं सदेति प्रभुरादिदेश॥

(१४)

पापानि सन्तापविधायकानि,
हरन् जनानां विमलात्मरूपः।
भूसावलं भूषयति स्म भव्यं,
ततोऽपि यातो जलगाँवमध्ये॥

(१५)

धर्माण्यधर्माणि विविक्तरूपात्,
प्रकाशयन् सूर्यसमप्रकाशः।
स धूलियायां पदपद्मधूल्या,
पवित्रयामास नृणां चरित्रम्॥

(१६)

भावे विनोबाख्यकनिष्ठबन्धुः,
श्रीमान् शिवाजी गुणिवर्यगण्यः।
धर्मस्य चर्चां विधितो विधाय,
तत्त्वान्यगृह्णाद् विविधानि विज्ञः॥

(१३)

आचार्यवर ने अपने उपदेश के बीच बताया कि पर्वतराज हिमालय से जैसे गंगा निकलती हैं, उसी तरह सत्य से अहिंसा उद्भूत होती है, इसलिए सत्य की सदा उपासना करें। सत्य से अहिंसा के उद्भूत होने का तात्पर्य यह है कि सत्य और अहिंसा दोनों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। इन्हें पृथक् नहीं किया जा सकता।

(१४)

आत्म-नैर्मल्यसंम्पन्न आचार्यवर ने दुःखोत्पादक पापों का ध्वंस करते हुए भुसावल नामक सुन्दर स्थान को विभूषित किया अर्थात् उनका भुसावल में पदार्पण हुआ। तदनन्तर जलगाँव पधारे।

(१५)

सूर्य के समान ज्योतिःशील आचार्यवर ने धर्म और अधर्म का पृथक्-पृथक् विवेचन करते हुए. अनेक स्थानों में पर्यटन करते हुए धूलिया में पाद-न्यास किया। लोगों के चरित्र को पावन किया।

(१६)

वहाँ आचार्य विनोबा भावे के कनिष्ठ बन्धु, गुणिश्रेष्ठ, विद्वान् श्री शिवाजी भावे ने आचार्यवर के साथ विस्तार से धर्म-चर्चा की। उन्होंने आचार्यवर से विविध तत्त्व ग्रहण किये।

(१७)

आमन्त्रितस्तेन महोदयेन,
तत्तत्त्वभृन्मन्दिर — माससाद ।
सम्मेलनं तात्त्विकपूरुषाणां,
ध्वान्तं सदा चन्द्रवदेव हन्ति ॥

(१८)

ततो विहारं ससुखं विधाय,
सुधारयन् मार्गगतान् मनुष्यान् ।
अणुव्रतानां सततप्रचारै-
र्जहार पापानि हृदि स्थितानि ॥

(१९)

जैनैरजैनैरपि सर्वलोकै-
रामन्त्रितस्ताप — समूहहारी ।
इन्दौरपुर्यां बहुशोभितायां,
धर्मोपदेशाय समागतः सः ॥

(२०)

श्रीतख्तमल्लो वरमुख्यमन्त्री,
मिश्र्यादिलालोऽप्यथ वित्तमन्त्री ।
अन्येऽपि मन्त्रिप्रवरास्तथैव,
विधानसंसन्निरताः सदस्याः ॥

(२१)

सुस्वागतं मान्यमुनीश्वरस्य,
हर्षेण चक्रुः स्वचरित्रशुद्ध्यै ।
ऋतोर्वसन्तस्य विकासहेतो-
र्वृक्षा यथा पल्लवपुष्पगर्भाः ॥

(१७)

श्री शिवाजी भावे के आमंत्रण पर आचार्यवर गाँधी-तत्त्व-ज्ञान-मन्दिर पधारे। तात्त्विक पुरुषों का सम्मेलन चन्द्रमा की तरह अन्धकार को हर लेता है।

(१८)

तब वहाँ (धूलिया) से आचार्यवर ने आनन्दपूर्वक विहार कर मार्ग में आये मनुष्यों को जीवन-शुद्धि की ओर बढ़ाते हुए, अणुव्रतों के प्रसार द्वारा लोगों के हृदयस्थ पापों को दूर किया।

(१९)

दुःखचय के उच्छेत्ता आचार्यवर जैन और अजैन—सभी लोगों की प्रार्थना पर अत्यन्त शोभापन्न इन्दौर नामक नगरी में पधारे।

(२०-२१)

तत्कालीन मध्यभारत के मुख्यमंत्री श्री तख्तमलजी जैन, वित्तमंत्री श्री मिश्रीलालजी गंगवाल, अन्य मंत्रीगण तथा विधान-मण्डल के सदस्यों ने चरित्र-शुद्धि का अभिप्रेत लिये हर्ष के साथ आचार्यवर का उसी प्रकार स्वागत किया, जिस प्रकार पत्तों और फूलों से हरे-भरे वृक्ष विकासप्रद ऋतुराज वसन्त का स्वागत करते हैं।

(२२)

भवाम्बुधौ संप्रति पत्यमाने,
विश्वे समस्ते कलहागमेन।
अणुव्रतैः पोतसमानरूपै-
स्तरन्तु विज्ञा गणिनः प्रतापात् ॥

(२३)

एवं वदन्तो बहवो मनुष्याः,
गणीश — पादाम्बुजयोर्निपेतुः।
सुधासमानैर्वचनैः स्वकीयै-
रतोषयंस्तान् मुनिवन्दनीयः ॥

(२४)

कर्त्तुं चतुर्मासनिवासमेव,
श्रीकालिदासस्य निवासभूमौ।
साहित्यपाथोनिधि—धौतरथ्या-
पथापथाया—मतिनिर्मलायाम् ॥

(२५)

श्रीविक्रमादित्य — नृपप्रसिद्ध-
न्यायोचितायां नवरत्निकायाम्।
श्रीभर्तृहर्यादि — बुधोषितायां,
पुर्यामढौकिष्ट वरोज्जयिन्याम् ॥

(२२)

आज सर्वत्र कलह छाया है, सारा संसार विभीषिका के सागर में डूबता जा रहा है। अणुव्रत जहाज के तुल्य है। बुद्धिमान् लोग गणिवर के अनुग्रह से उनका सहारा ले विभीषिका के समुद्र को पार करें।

(२३)

यों कहते हुए अनेक मनुष्य गणिवर के चरणों में अभिनत हुए। मुनिजन-वन्दित आचार्यवर ने अपने अमृतोपम वचनों से उन्हें परितुष्ट किया।

(२४-२५)

जो कालिदास की निवास-भूमि रही है, साहित्यरूपी समुद्र से जिसकी गली-गली धुली है अतएव अत्यन्त निर्मल, राजा विक्रमादित्य के सुप्रसिद्ध न्याय जहाँ होते रहे हैं, जिसमें (विक्रमादित्य की सभा में) नवरत्न रहे हैं, श्री भर्तृहरि प्रभृति विद्वान् जिसमें निवास करते रहे हैं, आचार्यवर चातुर्मास के लिए उस उत्तम नगरी उज्जयिनी में पधारे।

(२६)

हिंसाविरुद्धं — स्वरुद्धदोषै-
र्दाने दयायां च महाप्रवीणैः।
भिक्षोः पथिस्थैरपरैर्जनैर्वा,
सुस्वागतं तस्य कृतं प्रभूतम्॥

(२७)

अध्यात्मसंबद्ध — बहुप्रसङ्गे,
निराकृतास्तेन मशङ्कशङ्काः।
श्रीविक्रमस्येव सभाऽपि तस्य,
न्यायस्य वर्त्मान्यनुसन्दधौ च॥

(२८)

राजत्यहिंसा — दिवसेऽजमेर-
मुख्योऽपि मन्त्री हरिभाऊनामा।
उपस्थितोऽन्येऽपि विधानसंस-
त्सदस्याः सनिजप्रधानाः॥

(२९)

तं राजनीतिप्रवरैरनेकै-
राचार्यवर्येण सहातिशान्तैः।
अणुव्रतानां विषये विचारः,
संपादितो देशसुधारहेतोः॥

(२६)

हिंसा में अरत, दोषों का अवरोध करनेवाले, दान-दया के तत्व-ज्ञान में अत्यन्त प्रवीण भिक्षु-पथानुयायी लोगों तथा अन्यान्य नागरिकों द्वारा आचार्यवर का हार्दिक स्वागत किया गया।

(२७)

आचार्यवर ने अध्यात्म-सम्बन्धी विषयों में शंकावान् व्यक्तियों की अनेक शंकायें दूर की। उनकी सभा में भी राजा विक्रमादित्य की सभा की तरह न्याय-पथ का अनुसन्धान—गवेषणा चलती थी।

(२८-२९)

वहाँ आयोजित अहिंसा-दिवस के कार्यक्रम में तत्कालीन अजमेर राज्य के मुख्यमंत्री श्री हरिभाऊजी उपाध्याय सम्मिलित हुए। दूसरे एक विशेष आयोजन में तत्कालीन मध्यभारत विधान-सभा के सदस्य, विधान सभा के अध्यक्ष (श्री अनन्त सदाशिव पटवर्धन) के साथ उपस्थित हुए। देश के सुधार के उद्देश्य से उन राजनीति-वेत्ता विधान सभाइयों ने अत्यन्त शान्तभाव लिए, आचार्यवर से अणुव्रतों के सम्बन्ध में विचार-विमर्श किया।

(३०)

अणुव्रतानामधिवेशने च,
भावे शिवाजी समुपाजगाम ।
श्रीतख्तमल्लो वरमुख्यमन्त्री,
मिश्र्यादिलालोऽप्यथ गङ्गवालः ॥

(३१)

विद्वद्वरः साधुवरो महात्मा,
साहित्यसंगीत — कलाप्रवीणः ।
समागतः श्री 'तुकडोजि' नामा,
सोऽभूत् प्रसन्नो गणियोजनाभिः ॥

(३२)

गुणैर्गृहस्था भ्रमरा मरन्दै-
रिवागता दूरदिशोऽपरेऽपि ।
ज्ञानार्कतः पूर्णविकासमाप्तं,
जगद्विरक्तस्य पदारविन्दम् ॥

(३३)

ज्ञात्वा चतुर्मासिसमाप्तिकालं,
न्यस्तोऽपि कार्येष्वधिकेषु तत्र ।
अग्रे विहाराय विनिश्चिकाय,
राजस्थलीमात्मबली विवेकी ॥

(३०)

वहाँ अणुव्रत-आन्दोलन के अधिवेशन में श्री शिवाजी भावे, (मध्यभारत के) मुख्यमंत्री श्री तख्तमलजी जैन, वित्तमंत्री श्री मिश्रीलालजी गंगवाल प्रभृति ने भाग लिया।

(३१)

वहाँ विद्वान्, महात्मा, साहित्य और संगीत-कला में दक्ष सन्त-तुकड़ो जी भी आचार्यवर के सान्निध्य में आये। आचार्यवर द्वारा संचाल्यमान अध्यात्म व नैतिक अभ्युदयमूलक योजनाओं पर वे बहुत प्रसन्न हुए।

(३२)

गुणों के कारण अनेक गृहस्थ ज्ञानरूपी सूर्य द्वारा विकसित जगद्-विरक्त आचार्यवर के चरण-कमलों में इस प्रकार आने लगे, जिस प्रकार भौंरे पराग के कारण कमल पर आते हैं।

(३३)

चातुर्मास परिसमाप्त हुआ जान आत्मबली, विवेकशील आचार्यवर ने वहाँ अध्यात्म-प्रसारात्मक कार्यों में अधिकाधिक व्यस्त होते हुए भी आगे राजस्थान की ओर विहार करने का निश्चय किया।

(३४)

अमारगा मार्गभुवि व्रतीशाः,
धर्माणि तुल्या अथ कामगोभिः ।
अशिक्षयन् पान्थजनाननेकान्,
पातुं पयो वत्सवरानिवोत्कान् ॥

(३५)

विधिं महामाघमहोत्सवस्य,
विधातुकामो नियमानुकूलम् ।
स भीलवाडां शुभभक्तिगाढां,
पुरीं प्रपेदे जनतानतांघ्रिः ॥

(३६)

तदुत्सवेऽसंख्य — नरैरुपेते,
साधून् गृहस्थानपरांश्च लोकान् ।
संबोधयन् न्यायपथं विशुद्धं,
ततोऽपि स स्वीकृतवान् विहारम् ॥

(३७)

मार्गागताया — मजमेरपुर्यां,
कुर्यां निवासं स्वमितिप्रतिज्ञः ।
तत्रागतस्तद्गत — मुख्यमन्त्रि-
प्रमृत्यनेकै — रभिनन्दितांघ्रिः ॥

(३४)

ब्रह्मचर्य-रत मुनि मार्ग में उत्सुकता लिए सम्पर्क में आनेवाले अनेक पथिकों को धर्म की शिक्षा देते रहते थे, जैसे कामधेनु दूध पीने के लिए दौड़े आते बछड़ों को दूध पिलाती है।

(३५)

नियमानुरूप मर्यादा-महोत्सव सम्पन्न करने के लिए आचार्यप्रवर अत्यन्त भक्ति भरे भीलवाड़ा नामक शहर में पधारे। वहाँ की जनता उनके चरणों में प्रणत थी।

(३६)

असंख्य लोगों से युक्त उस समारोह में, साधुओं, गृहस्थों—सभी को विशुद्ध सत्य-पथ का उद्बोधन देते हुए आचार्यवर ने वहाँ से भी विहार किया।

(३७)

मार्गानुक्रम के मध्य अजमेर में प्रवास करना है, अपने इस अन्तर्निश्चय के अनुसार आचार्यवर अजमेर आये, जहाँ मुख्यमन्त्री श्री हरिभाऊजी उपाध्याय प्रभृति अनेक विशिष्ट जनों ने उनका अभिनन्दन किया।

(३८)

ततो हट्टण्ड्यां विहितक्रमाञ्जौ,
मेयोमये कालजकौलजेऽपि ।
अध्यापकांश्छात्रवरांश्च सर्वान्,
सम्बोध्य धीमान् मधुरं बभाणं ॥

(३९)

स किन्नृपो मन्त्रिजनानपेक्षां,
करोति यो नीतिमुपेक्षमाणः ।
अतः स मन्त्रिप्रवराय दातुं,
स्वदर्शनं चैल्सरदारपुर्याम् ॥

(४०)

मग्नोऽपि मन्त्रिप्रवरः स्वनाथं,
विलोक्य चिन्तामणितुल्यरूपम् ।
स पांशुमय्यां निजरोगशय्यां,
विहाय पादेषु पपात भूमौ ॥

(३८)

गाँन्धी-आश्रम, हटूडी भी आचार्यवर पधारे। अपेक्षित समय में संस्थापित मेयो कालेज में भी उनका प्रवचन हुआ, जहाँ उन्होंने अध्यापकों एवं छात्रों को सम्बोधित कर मधुर वचनों से उपदेश किया।

(३९)

वह क्या राजा है, जो नीति की उपेक्षा कर मंत्री-जन की भी परवाह नहीं करता—यों विचारकर वे मन्त्रिप्रवर श्री मगनमुनि को दर्शन देने के लिए सरदार शहर पधारे।

(४०)

मंत्रिवर श्री मगन मुनि चिन्तामणि के समान रूपवाले अपने स्वामी को देख अपनी रोग-शय्या छोड़ बालुकामयी भूमि में आचार्यवर के चरणों में भक्ति से नत हो गये।

ओम्

अथ त्रयस्त्रिंशत्सर्गः

(१)

ततो मार्गश्रमं भूरि,
प्राप्यापि स गणाधिपः ।
इन्द्रप्रस्थं प्रतस्थेऽथ,
भव्यवैभव — भूषितम् ॥

(२)

जनख्यातो जनरलो,
डाक्टरो लूथराभिधः ।
विद्या—गङ्गाऽम्बुधौताङ्गो,
यूनेस्को — डाइरेक्टरः ॥

(३)

अणुव्रतानां सौहित्यं,
सहर्ष — मुदजीघटत् ।
तत्र सर्वहितार्थाय,
स्वकीयैः कोमलैः करैः ॥

(४)

अन्येऽपि बहुविद्वांसः,
सर्वविद्या — विशारदाः ।
भारतस्य प्रसिद्धायां,
राजधान्यां समागताः ॥

(१)

तदनन्तर अत्यधिक मार्ग-श्रम झेलते हुए भी गणिवर ने (लोकोपकार की भावना लिए) दिल्ली की ओर विहार किया, जो सुन्दर वैभव से विभूषित है।

(२-३)

वहाँ आचार्यवर के सान्निध्य में अणुव्रत-सेमिनार का आयोजन हुआ। यूनेस्को के डाइरेक्टर जनरल डा० लूथर इवान्स ने उसका अत्यन्त हर्ष के साथ उद्घाटन किया।

(४)

और भी बहुत से विद्वान्, जो सब विद्याओं में निपुण थे, भारत की राजधानी दिल्ली में आये।

(५)

लङ्कायाश्चीन — जापान-
तिब्बतेभ्यः पृथक् पृथक् ।
लाओसात् स्यामतश्चैवं,
परस्मादपि देशतः ॥

(६)

उत्तमोत्तम विद्यानां,
विद्वांसो बौद्धभिक्षवः ।
महामेधाविनः प्रापाः,
गोष्ठ्यां श्रमणसंस्कृतेः ॥

(७)

पीतैः पटैरावृतविग्रहेषु,
बौद्धेषु भिक्षुप्रवरेषु जातः ।
श्वेताम्बरं स्वं निदधद् गणीशः,
पीते प्रभातेऽभ्युदितः सितार्कः ॥

(८)

यः कालुकाले मिलितः पुराणे,
जैकोबिनामा जरमन्निवासी ।
शिष्यद्वयं तस्य जिनागमज्ञं,
प्रासादयन्मान्यमुनिं मिलित्वा ॥

(५-६)

आचार्यवर के सान्निध्य में आयोजित श्रमण-संस्कृति-गोष्ठी में लंका, चीन, जापान, तिब्बत, लाओस, श्याम तथा अन्य देशों के विद्वान् एवं व्युत्पन्न बौद्ध भिक्षु उपस्थित हुए।

(७)

जिनका शरीर पीत वस्त्रों से ढका था, ऐसे बौद्ध भिक्षुओं के बीच महान् श्वेतवस्त्रधारी आचार्यवर ऐसे प्रतीत होते थे, मानो पीत—पीले प्रभात में श्वेत—उज्ज्वल सूर्य उदित हुआ हो।

(८)

स्वर्गीय आचार्य श्री कालुगणी के समय में उनसे (श्री कालुगणी जी से) हर्मन जैकोबी नामक जो जर्मन विद्वान् मिला था, उसके जो शिष्य, जो जैन आगमों के विद्वान् थे, आचार्यवर से वहाँ मिलकर बहुत प्रसन्न हुए।

(९)

उवाच वाग्मी जिनधर्मधारी,
संबोध्य बौद्धानपरांश्च लोकान् ।
गंगाऽस्त्यहिंसा स्वतटौ तदीयौ,
जैनश्च बौद्धश्च मतौ दृढौ द्वौ ॥

(१०)

हिमालयात् सा श्रमणत्वरूपा-
दुत्पद्य तीरद्वयरक्षिताङ्गा ।
विरोधिशैलैरपि बाध्यमाना,
पवित्रयामास समस्तभूमिम् ॥

(११)

आवेष्टितं जीवदयालतातः,
पुनर्भवं वा पुरुषार्थवादम् ।
वृक्षद्वयं सा परिपोषयन्ती,
मोक्षैकसिन्धौ मिलति प्रकर्षात् ॥

(१२)

फ्यूज्याह्वयः कश्चन बौद्धभिक्षु-
र्जापानवासी विबुधस्तदैवम् ।
आतर्कयद् बौद्धसमः कथन्न,
जैनो विदेशेषु विकासमाप ॥

(९)

आर्हती परम्परा के अधिनेता, वाग्मी आचार्यवर ने बौद्धों तथा अन्य लोगों को सम्बोधित कर कहा कि अहिंसा गंगा के तुल्य है। जैन मत और बौद्ध मत उसके दो सुदृढ़ तट हैं।

(१०)

श्रमणत्व रूप हिमालय से निकलकर वह (अहिंसा रूप गंगा) अपने दोनों तटों की रक्षा करती हुई, विरोधी जनरूपी पर्वतों से बाधित होती हुई भी समस्त भू-मण्डल को पवित्र करती रही है।

(११)

वह गंगा जीव-दयारूपी लता से आवेष्टित, पुनर्जन्मवाद और पुरुषार्थवाद रूप वृक्षों का परिपोषण करती हुई मोक्षरूपी एक ही समुद्र में प्रकृष्टतापूर्वक मिल जाती है।

(१२)

उस समय फ्यूजी नामक किसी जापानी विद्वान् बौद्ध भिक्षु ने शंका की कि बौद्ध धर्म की तरह जैन-धर्म का विदेशों में प्रसार क्यों नहीं हुआ?

(१३)

साध्यः समस्तैरविशेषरूपा-
ज्जातः स माध्यस्थ्यमुपेत्य बौद्धः ॥
अमुंचमानः कठिनां स्वशैलिं,
जनो व्यगाहिष्ट न दूरदेशम् ॥

(१४)

अंग्रेजभाषेव न संस्कृतस्य,
भूरिप्रचारः कठिनत्वयोगात् ।
एवं समाधाय समानरूपात्,
सभामशङ्का—मकरोज्जिनाभः ॥

(१५)

अथो मुनीशोऽद्भुतपत्रकार-
संमेलनेऽण्वस्त्र — विरोधहेतोः ।
अणुव्रतस्वीकरणं प्रधानं,
व्यजिज्ञपच्चैकममोघ —शस्त्रम् ॥

(१६)

ततो महाऽणुव्रतवर्यगोष्ठ्या-
मणुव्रते जीवनशुद्धिसिद्धिम् ।
न्यदर्शयद्विश्व — नितान्तशान्त्यै,
कल्याणकांक्षी स गणाधिराजः ॥

(१३)

बौद्ध धर्म ने मध्यम मार्ग—मध्यम प्रतिपदा स्वीकार की, इसलिए उसका सामान्यरूपेण अनुसरण-परिपालन सबके लिए साध्य था पर जैन धर्म ने अपनी कठिन साधना-पद्धति को नहीं छोड़ा अतः वह दूरवर्ती देशों में न फैल सका।

(१४)

इसी प्रसंग को स्पष्ट करते हुए आचार्यवर ने कहा कि अंग्रेजी का विश्व में प्रचुर प्रसार हो सका, उस तरह संस्कृत का नहीं, क्योंकि वह कठिन है। इसी लिए कष्ट-साधना के कारण जैन धर्म विदेशों में प्रसार नहीं पा सका।

(१५)

तदनन्तर आचार्यवर ने दिल्ली में आयोजित पत्रकार सम्मेलन में पत्रकारों को बतलाया कि अणुव्रतों का स्वीकरण अणुबम के विरोध में एक अमोघ शस्त्र जैसा है।

(१६)

विश्व का कल्याण चाहनेवाले गणिवर ने वहाँ आयोजित अणुव्रत-गोष्ठी में बताया कि जन-जन की जीवन-शुद्धि का अभिप्रेत लिए चलने वाला अणुव्रत-अभियान विश्व-शान्ति के लिए अपनी विशेष उपयोगिता लिए हुए है।

(१७)

यौवसर्साहोद्भव — सम्प्रदाय-
मुख्याधिकारी विलियम्ससंज्ञः।
तस्यां सभायां मधुरैः स्वशब्दै-
र्मुम्बापुरीस्थो विबुधो बभाषे ॥

(१८)

उत्पादिनामात्मबलस्य नित्य-
मणुव्रताना — मधिधारकेण।
यूरोपदेशेऽपि गतेन शीते,
न मादकं वस्तु मया न्यपेवि ॥

(१९)

अणुव्रतानां विमलं महत्त्वं,
मत्तोऽवगम्याऽपि विदेशिनोऽपि।
तत्सत्प्रयोगाय विधिं विशुद्ध-
मन्वेषयामासु — रनेकवारम् ॥

(२०)

आध्यात्मिकत्वस्य विकासहेतो-
राचार्यवर्यो गणिनां वरेण्यः।
महामहिम्नो महनीयकीर्तेः,
प्रासादके राष्ट्रपतेरगच्छत् ॥

(१७)

ईसाई धर्म के एक मुख्य अधिकारी, बम्बई-निवासी, विद्वान् फादर डा० जे० विलियम्स, जो अणुव्रत-गोष्ठी में उपस्थित थे, वहाँ मधुर शब्दों में भाषण करते हुए बोले :—

(१८)

"मैंने आत्म-बल उत्पन्न करनेवाले अणुव्रत स्वीकार किये। संयोग ऐसा बना—मैं तभी यूरोप गया, जहाँ बहुत सर्दी पड़ती है, पर अणुव्रतों के नियमों में बंधे होने के कारण मैंने वहाँ किसी भी नशीले पदार्थ का सेवन नहीं किया।

(१९)

वैदेशिक लोग मुझ से अणुव्रतों का महत्त्व समझकर बार-बार उनके प्रयोग का विशुद्ध मार्ग ढूंढने लगे।"

(२०)

आध्यात्मिकता के विकास का अभिप्रेत लिए गणिवरेण्य, आचार्यप्रवर, महामहिम, परम यशस्वी राष्ट्रपतिजी के निवास-स्थान में पधारे।

(२१)

स प्रागनेकान्तरतोऽपि धीमा-
नेकान्तवार्त्तां सह राष्ट्रभर्त्रा ।
अणुव्रतानां विषये विधाय,
सभास्थलं शोभयितुं बभूव ॥

(२२)

उवाच वाचस्पतिसन्निभः सः,
भो राष्ट्रभर्त्तः ! पुरुषाः ! परे च ।
अध्यात्मभावो भुवि भारतस्य,
प्रभाविधर्मो भवति स्वभावात् ॥

(२३)

अणुव्रतानां कुरुते प्रचार-
मस्माकमेष श्रमणः श्रमेण ।
सहायता नेतृभिरप्यमुत्र,
कार्या नितान्तं निरवद्यरूपात् ॥

(२४)

समर्थनं राष्ट्रपतिस्तदीयं,
चकार धीरः सरलस्वभावः ।
तेषामणूनां विमलव्रतानां,
कुर्वन् प्रशंसां ग्रहणोचितानाम् ॥

(२१)

अनेकान्तवाद में निरत मेधाशील आचार्यवर ने राष्ट्रपतिजी के साथ अणुव्रतों के विषय में एकान्त में वार्तालाप किया। तदनन्तर वे सभास्थल में पधारे।

(२२)

बृहस्पति के तुल्य आचार्यवर कहने लगे—"राष्ट्रपतिजी! अन्य नागरिकों! अध्यात्मवाद भारत का स्वाभाविक एवं प्रभावशील धर्म है।

(२३)

हमारे श्रमण परिश्रमपूर्वक अणुव्रतों का प्रचार करते हैं। यह अपेक्षित है—लोकनेता इसमें निरवद्य रूप में सहयोग करें।"

(२४)

सरलचेता, धैर्यवान राष्ट्रपतिजी ने अणुव्रतों का समर्थन किया तथा उन्हें ग्रहण करने योग्य बतलाया।

(२५)

अप्रेमपात्र्याः परदेशिधात्र्याः,
हस्ताद् गृहीतं विपुलाग्रहेण ।
अपीतदुग्धं क्षुधयाऽऽकुलाङ्गं,
वाचाऽप्यशक्तं गतितोऽप्यशक्तम् ॥

(२६)

स्वराज्यबालं झटिति स्वकाङ्के,
निधाय यः पालयति स्म भूरि ।
विवर्द्धमानं क्रमशस्तमद्य,
नानाऽऽमयैर्बाधित—सर्वगात्रम् ॥

(२७)

अशिक्षितं वा लघुशिक्षितं वा,
घ्नन्तं स्वपादे स्वकतः कुठारम् ।
करे परेषां पतयालुमाशु,
यश्चाधुनोद्धारयितुं प्रवीणः ॥

(२८)

समस्तविश्वोदित — शान्तिदूतः,
प्रधानमंत्री स जवाहराख्यः ।
चरित्रनिर्माण — विशेषगोष्ठ्या-
माचार्यवर्यं मिलितः प्रहर्षात् ॥

(२५-२८)

जो (श्री नेहरू जी) जिस स्वराज्यरूपी बालक को, स्नेहरहित वैदेशिक शासकरूपी धाय के हाथ से आग्रहपूर्वक छीन, अपनी गोद में ले विशेषतः लालित-पालित करते रहे हैं, जो (स्वातन्त्र्य-शिशु) अब क्रमशः बढ़ता जा रहा है पर जिसका सारा शरीर अनेक प्रकार के रोगों से जर्जर है, जो अशिक्षित है या अल्प-शिक्षित है, जो (पारस्परिक कलह आदि के रूप में) स्वयं अपने पैरों में कुल्हाड़ी मार रहा है, ऐसा कर जो दूसरों के हाथों में पड़ना चाहता है— उसका उद्धार—उन्नयन करने में जो कौशल के साथ लगे हैं, जो समस्त-विश्व में शान्ति-दूत के नाम से प्रसिद्ध हैं, वे प्रधानमंत्री श्री जवाहरलाल जी आचार्यवर के सान्निध्य में आयोजित चरित्र-निर्माण-सप्ताह के विशेष आयोजन में सम्मिलित हुए, आचार्यवर से भेंटकर वे बहुत प्रसन्न हुए।

(२९)

तेनोदितं भारतशासकेन,
सभास्थले नीतिविदांवरेण।
अणुव्रतैरित्युचितै — रिदानीं,
महोपकारः क्रियते य एषः॥

(३०)

सहानुभूतिर्मम तत्र पूर्णा,
सोऽनीतिनाशाय महाप्रयासः।
गणीन्द्रवर्योऽपि ततो न्यगादी-
दणुव्रतानां सकलं विधानम्॥

(३१)

विद्यार्थिनां मध्यगतेन तेन,
ततो गणीन्द्रेण मितैर्वचोभिः।
ते प्रेरिता अध्ययनस्य काले,
कर्त्तुं पवित्रं सततं चरित्रम्॥

(३२)

वाल्मीकिजातिस्थजनैरपि स्व-
संमेलने श्रीगणिनां समक्षे।
श्रुत्वोपदेशं विहिता प्रतिज्ञा,
मांसस्य मद्यस्य च वर्जनाय॥

(२९)

भारत के अभिरामात्मा, नीतिनिपुण श्री नेहरूजी ने सभा-स्थल में कहा कि आचार्यवर उपयोगी अणुव्रतों के आधार पर जनता का बड़ा उपकार कर रहे हैं।

(३०)

उन्होंने कहा—मेरी इस अभियान में पूर्ण सहानुभूति है। यह अनैतिकता को मिटाने का महत्वपूर्ण प्रयास है। तदनन्तर आचार्यवर ने भी अणुव्रत-नियमों का विवेचन किया।

(३१)

(दूसरे दिन) गणिवर ने विद्यार्थियों के बीच किये गये अपने संक्षिप्त भाषण में उन्हें विद्याध्ययन के साथ-साथ अपने चरित्र को भी सदा पवित्र बनाये रखने की प्रेरणा दी।

(३२)

वाल्मीकि-जातीय हरिजनों का भी सम्मेलन आयोजित किया गया, जिसमें हरिजनों ने आचार्यप्रवर का उपदेश सुन मांस एवं मद्य का सेवन न करने की प्रतिज्ञा की।

(३३)

कारागृहस्था अपराधिनोऽपि,
नाऽगः पुनर्नागफणेन तुल्यम् ।
स्रष्टास्म इत्थं विहितप्रतिज्ञाः,
केचिद् बभूवुर्गणिनः समीपे ॥

(३४)

शिक्षा — प्रभावान्मुनिसत्तमस्य,
महामहिम्नो महिला अनेकाः ।
चरित्रनिर्माणकृते प्रजाताः,
संमेलने स्वे विहितप्रयासाः ॥

(३५)

व्यापारिवाकील—पृथक्पृथक्स्थ-
संघानशेषानवगाह्य वाग्मी ।
अणुव्रतं धारयितुं तदीय-
सदस्यवर्यान् कथयाम्बभूव ॥

(३६)

गोष्ठ्यां कृतायामथ राजकीय-
सदस्य — निर्वाचनशुद्धिहेतोः ।
सं तुल्यपादेन गणीश्वरेण,
तदर्थमित्थं नियमो व्यधायि ॥

(३३)

आचार्यप्रवर का बन्दी-गृह में भी प्रवचन हुआ, जहाँ उनसे प्रेरणा पा कतिपय बन्दियों ने प्रतिज्ञा की कि वे अपराध को साँप के फण के तुल्य मानते हुए उसकी फिर आवृत्ति नहीं करेंगे।

(३४)

महामहिम, मुनिश्रेष्ठ आचार्यप्रवर के सान्निध्य में आयोजित महिला-सम्मेलन में अनेक महिलाओं ने चरित्र-निर्माण के कार्य में यत्नशील रहने का अपना निश्चय व्यक्त किया।

(३५)

वाग्मी गणिवर ने व्यापारियों, वकीलों आदि सभी वर्गों के पृथक्-पृथक् संगठनों में जाकर, उनके सदस्यों को अणुव्रत स्वीकार करने की प्रेरणा दी।

(३६)

विधान-मण्डलों के निर्वाचन में शुद्धि रहे, इस उद्देश्य से आचार्यप्रवर के सान्निध्य में विभिन्न राजनैतिक दलों का एक सम्मेलन आयोजित किया गया, जिसमें आचार्यवर ने निर्वाचन-पद्धति के सम्बन्ध में परिगठित नियमों का विवेचन किया।

(३७)

ग्राही मतानां परवञ्चनार्थी,
निन्दन् विपक्षं प्रददंस्तथार्थम् ।
अहं न जालेन मतं ग्रहीष्ये,
इति प्रतिज्ञां वितनोमि सद्यः ॥

(३८)

एवं प्रतिज्ञामभिभावयन्तं,
कांग्रेससंस्थाऽधिप — ढेबरोऽपि ।
भूत्वा प्रसन्नः प्रशशंस नाथ-
मणुव्रतानामघ — घातकानाम् ॥

(३९)

संसत्सदस्यैरथ राजदूतै-
र्न्यायाधिपै—र्लोकसभाधिनाथैः ।
सुराज्यपालै — र्निगमाधिराजैः,
रक्षाधिपै — र्वाऽयुपराष्ट्रराजैः ॥

(४०)

विद्वद्वरिष्ठैः कविभिर्वरेण्यै-
र्दलायिलामादिक—धार्मिकाग्रैः ।
समाजवादेऽप्यथ साम्यवादे,
निष्णातलोकैः सह चर्चयन् सः ॥

(४१)

संप्रदायमनादाय, सर्वेषां कुशलेच्छुकः ।
श्रावकान् श्रावयामास, धर्मतत्त्वं गणीश्वरः ॥

(३७)

उन नियमों के अन्तर्गत, उम्मीदवार प्रतिज्ञाबद्ध होता है कि वह दूसरों की प्रवञ्चना नहीं करेगा—दूसरों को ठगेगा नहीं, विपक्ष की निन्दा नहीं करेगा, मत-प्राप्ति के लिए रुपये नहीं देगा, छल से मत नहीं लेगा।

(३८)

इन उपयोगी नियमों के उद्भावक, विकृतिनाशक अणुव्रत-अभियान के संप्रवर्तक आचार्यवर के इस उपक्रम पर प्रसन्न हो कांग्रेस-अध्यक्ष श्री यू० एन० ढेबर ने हार्दिक सराहना की।

(३९-४१)

उपराष्ट्रपति, लोकसभा के अध्यक्ष, दलाईलामा प्रभृति धार्मिक नेता, संसत्सदस्य, राजदूत, न्यायाधिपति—न्यायाधीश, विभिन्न प्रदेशों के राज्यपाल, नगर-निगम के सदस्य, रक्षा-विभाग के अधिकारी, विद्वद्गण, कविश्रेष्ठ समाजवाद तथा साम्यवाद के विशिष्ट अधिकारीजन आदि के साथ समय-समय पर चर्चा करते हुए, सबका श्रेयस् चाहनेवाले आचार्यवर ने श्रोताओं को असाम्प्रदायि- धर्म का उपदेश दिया।

(४२)

आचार्यो बुद्धिमद्भर्यो,
गत्वा न्यायालयेष्वपि।
तेने धर्मस्य मार्गेण,
न्यायान्यायविचारणाम् ॥

(४३)

धर्म संबोद्धय शुद्धात्मा,
सर्व — साधारणानपि ।
विहारं कृतवान् वाग्मी,
पुना राजस्थलीं प्रति॥

(४४)

योग्यायोग्य — विवेकेन,
मार्गेऽपि वहवो नराः ।
आचार्याल्लाभ — मापद्य,
प्रसक्तिं समुपागताः ॥

(४२)

मतिमानों में श्रेष्ठ आचार्यवर ने न्यायालयों में भी प्रवचन किये, जहाँ उन्होंने धर्म के आदर्शों के अनुरूप न्याय-अन्याय के परिचिन्तन की प्रेरणा दी।

(४३)

शुद्धचेता आचार्यवर ने विभिन्न वर्गों के साथ-साथ जन-साधारण को भी धर्म का उपदेश देकर पुनः राजस्थान की ओर विहार किया।

(४४)

मार्गानुक्रम के बीच अनेक योग्य, अयोग्य मनुष्य आचार्यवर से अध्यात्म-लाभ पाकर प्रसन्न हुए।

(४५)

शुद्ध — धर्मोपदेशाय,
विनाशाय तमस्ततेः ।
विहृत्य बहुशो भूमौ,
यत्र तत्रापि सत्वरम् ॥

(४)

श्रावकै — र्बहुभिर्जुष्टं,
पुष्टं धर्मामृतेन च ।
सेवायां शुद्धसाधूनां,
विद्यमान — महर्निशम् ॥

(४७

साधुसाध्वीसमेतः स,
चतुर्मासकृते कृती ।
आजगाम पुरे रम्यं,
सुजानगढ — नामकम् ॥

(८)

विभाव्य भक्तिं हृदये स्वकीये,
आचार्यवर्यस्य महाप्रभावात् ।
अणुव्रतं धारयितुं शशाक,
विज्ञाततत्वा जनता तदानीम् ॥

(४५-४७)

कृतित्वशील आचार्यवर ने शुद्ध धर्म का उपदेश व अज्ञानरूपी अन्धकार-राशि के नाश करने का अभिप्रेत लिए और भी बहुत से स्थानों में पर्यटन किया तथा वे चातुर्मासिक प्रवास के निमित्त साधु-साध्वियों सहित सुजानगढ़ पधारे, जो धर्मरूपी अमृत से परिपुष्ट श्रावकों से युक्त तथा शुद्ध साधुओं की निरवद्य सेवा में अहर्निश कृतप्रयत्न है।

(४८)

लोग आचार्यवर से अणुव्रतों का तत्त्व समझ, प्रभावित हुए, उनके (आचार्यवर के) प्रति अपने हृदय में भक्ति लिए उन्होंने अणुव्रत स्वीकार किये।

(४६)

यस्यां दिशायां विशदस्वरूपो,
हिमालयो राजति शैलराजः।
तदुत्तरस्यां स्थितमुत्तरादि-
प्रदेशमेकं बहुशो विशालम्॥

(५०)

जगाम मान्यैर्बहुभिः समेतः,
कृत्वा चतुर्मासविधिं ततोऽग्रे।
कस्या दिशो ध्वान्तमतिप्रवृद्धं,
हर्तुं समर्थो न सहस्ररश्मिः॥

(५१)

अंसे युगादेव निधीयमानाद्,
नवे त्वदन्ते गवि बिभ्यतीव।
देशे नवीने व्रतवार्त्तयैव,
निमील्य नेत्रे विमुखायमाने॥

(५२)

शनैः शनैः स्वैर्मधुरैर्वचोभि-
राकर्षयन् गेहगतान्मनुष्यान्।
वंशीस्वनेनेव बिले शयानान्,
बिलेशयान् शिक्षयितुं क्षमोऽभूत्॥

(४९-५०)

सुजानगढ़-चातुर्मास समाप्त कर आचार्यवर ने जन-मान्य मुनियों सहित विशाल उत्तरप्रदेश की ओर प्रयाण किया, जो उत्तरदिशा में अवस्थित है, जहाँ (उत्तरदिशा में) पर्वतराज हिमालय शोभा पा रहा है। सूर्य किस दिशा का विवर्द्धित अन्धकार दूर नहीं करता।

(५१-५२)

जिस प्रकार नया और अदन्त (जिसके दान्त नहीं निकले हैं) बैल कन्धे पर जुआ रखते ही डर जाता है, उसी प्रकार यह नया प्रदेश व्रतों की बात सुनते ही आँखें मूँदकर पीछे हट रहा था। आचार्यवर ने धीरे-धीरे अपने मीठे वचनों द्वारा (व्रतों के भय से) अपने घरों में घुसे मनुष्यों को उसी प्रकार आकर्षित कर उन्हें शिक्षा दी, जिस प्रकार बिल में प्रविष्ट साँप पूंगी के मधुर स्वर से बाहर में खींच लिये जाते हैं, नियन्त्रित कर लिए जाते हैं।

(५३)

हिंसासु येषां सकलं स्वकीयं,
वयो व्यतीतं पुरुषाधमानाम् ।
अहिंसया निर्गतसंशयास्ते,
प्राप्ताः सुधारं निजजीवनस्य ॥

(५४)

चौर्यं कृतं यैर्विगतेष्वहःसु,
ते मेनिरे लोष्टसमं परार्थम् ।
अम्बाममन्यन्त परस्त्रियन्ते,
सदा बभूवुर्व्यभिचारिणो ये ॥

(५५)

यत्नैरधन्यैर्धनिनो धनानि,
संचित्य ये कोट्यधिपा अभूवन् ।
ततोऽपि सर्वं कपटं विहाय,
पापार्जितार्थाद् विमुखा बभूवुः ॥

(५६)

माता पिता बन्धुजनः प्रिया स्त्री,
त्यक्ताः क्षणायापि न यैर्विमुग्धैः ।
मुक्त्वा गृहं ते मुनिमान्यमार्गं,
स्वीकर्त्तुमुत्का मनसा प्रजाताः ॥

(५३)

जिन अधम व्यक्तियों की आयु अबतक हिंसात्मक कार्यों में बीती, अहिंसा द्वारा उनके सारे संशय उच्छिन्न हो गये और वे जीवन-सुधार के पथ पर अग्रसर होने लगे।

(५४)

जो विगत समय में चोरी करने में लगे थे, उनकी भावना में ऐसा परिवर्तन आया कि वे दूसरों के धन को पत्थर के समान मानने लगे, जो सदा व्यभिचार में रत थे, वे पर नारी को माता के समान समझने लगे।

(५५)

जो धनिक अपने निन्द्य प्रयत्नों द्वारा धन-संचित कर कोट्यधीश बन गये थे, छल-कपट का परित्याग कर वे पाप—अनैतिकता से अर्जित होनेवाले धन से पराङ्मुख हो गये।

(५६)

जो मोहवश माता, पिता, पारिवारिक जन तथा प्रिय पत्नी से क्षण भर भी दूर नहीं हो सकते थे, ऐसे कतिपय व्यक्ति घर का परित्याग कर श्रमण-धर्म स्वीकार करने में उत्सुकता बताने लगे।

(५७)

पुरे पुरे धर्मकथां ब्रुवाण-
स्ततो जनानां कृतदुष्कृतानाम् ।
संपाद्यमानो मनसा विशुद्धिं,
सोऽर्लीगढं नाम पुरं जगाहे ॥

(५८)

विद्यालयस्थैः — र्बहुविज्ञवर्य्यै-
रध्यापकैश्छात्रगणैः परैश्च ।
सुस्वागतं भक्तियुतं न्यधायि,
तपोनिधेः सद्गुणभर्तृकस्य ॥

(५९)

कृत्वा पवित्रं गृहमस्मदीयं,
सुधासमुद्रैः पदपद्मयुग्मैः ।
अस्मत्कुटुम्बं सकलं कृतार्थं,
चकार संस्कारवशात्पुराणात् ॥

(६०)

ततो विहारं सुखतो वितत्य
ग्रामान् पथिस्थानवगाहमानः ।
कृते चतुर्मासविधेर्वरस्य,
महापुरं कानपुरं जगाम ॥

(५७)

आचार्यवर नगर-नगर में धर्मोपदेश करते हुए, दुष्कृतकारी लोगों की मनःशुद्धि करते हुए अलीगढ़ नामक शहर में पधारे।

(५८)

सद्गुणभर्ता, तपोनिधि आचार्यवर का कॉलेजों के अनेक विद्वान् प्राध्यापकों, छात्रों तथा अन्य लोगों ने भक्तिपूर्वक स्वागत किया।

(५९)

वहाँ आचार्यवर ने सुधा-समुद्र के समान अपने चरण-कमलों से हमारा (कवि का) घर पवित्र कर पुराने संस्कार—संपर्क के कारण हमारे परिवार को कृतकृत्य किया।

(६०)

अलीगढ़ से सुखपूर्वक विहार कर आचार्यवर मार्ग-गत गांवों में होते हुए चातुर्मास के निमित्त कानपुर नामक विशाल नगर में पधारे।

(६१)

व्यापारिभिः कोट्यधिपैरनेकै-
र्विद्या — समुद्रैर्विबुधैरशेषैः।
अध्यापकैश्छात्र — जनैरसंख्यैः,
राज्याधिकारि—प्रमुखैर्वरिष्ठैः॥

(६२)

कृषीवलैर्वा श्रमिकैः सहर्षैः,
स चित्रकारैरथ पत्रकारैः।
वाक्कीलवर्गैश्च भिषग्वरिष्ठै-
र्विदेशिभिः कार्यवशादिहैतैः॥

(६३)

आर्यैश्च सानातनिकैश्च जैनै-
र्मोहम्मदैः कृश्चियनैश्च सभ्यैः।
सर्वैर्मिलित्वा बहुभक्तिपूर्वं,
सुस्वागतं मान्यमुनेरकारि॥

(६४)

तत्रत्यो राजपालो गिरिरिति विदितो मानितो मुख्यमंत्री,
संपूर्णानन्दनामा निखिलगुणनिधिः सर्वशास्त्रेषु दक्षः।
अध्यक्षौ द्वौ सभायां परिषदि च यथायोग्यतातो निषण्णौ,
खेरो धूलेकरो वा विविधगुणयुतौ राजनीतिप्रवीणौ॥

(६५)

प्राप्ता अन्येऽप्यहिंसादिव्रतपरिगतायोजने जायमाने,
उत्साहः सर्वलोकैर्हृदयतलगतो दर्शितो भूरिभावैः।
हिंसां कृत्वा प्रतिज्ञां बहुवधिकजनास्तद्दिने त्यक्तवन्तो,
जातो भूरिप्रचारः सपदि जनजने सर्वशोऽणुव्रतानाम्॥

(६१-६३)

अनेक कोटिपति व्यापारियों, विद्योदधि विद्वानों, अध्यापकों, छात्रों, असंख्य नागरिकों, प्रमुख राज्याधिकारियों, कृषकों, श्रमिकों, कलाकारों, पत्रकारों, वकीलों, वैद्यों, कार्यवश (भारत) आए हुए विदेशियों, आर्य-समाजियों, सानातनिकों, जैनों, मुसलमानों व ईसाईयों ने अत्यन्त भक्ति के साथ सम्मानास्पद गणिवर का अभिनन्दन किया।

(६४-६५)

उत्तरप्रदेश के सम्मान्य राज्यपाल श्री वी०वी० गिरि, गुणगणयुक्त, शास्त्रवेत्ता मुख्यमंत्री डा० सम्पूर्णानन्द, विधान-परिषद् व विधान सभा के अध्यक्ष श्री घुलेकर एवं श्री खेर आचार्यवर के सम्पर्क में आये। इनके अतिरिक्त और भी अनेक विशिष्ट लोग अहिंसा-दिवस के आयोजन में उपस्थित हुए। लोगों ने अत्यन्त आदर से अपने हृदय का उत्साह प्रदर्शित किया। उस दिन के लिए बहुत से वधिक जनों—कसाइयों ने भी हिंसा का परित्याग किया। यों शीघ्र ही जन-जन में अणुव्रत का व्यापक प्रसार हुआ।

(६६)

तच्चतुर्मासतः पूर्वं,
सीतापुर — पुरेऽथवा ।
पुरे लखनऊनाम्नि,
प्रयासोऽभव — दुत्तमः ॥

(६६)

चातुर्मास से पूर्व सीतापुर तथा लखनऊ में भी अणुव्रतों का अत्यधिक प्रसार हुआ, जहाँ आचार्यप्रवर पधारे थे।

ओम्

अथ चतुर्विंशत्तमः सर्गः

(१)

जाते चतुर्मासविधौ समाप्ते,
वङ्गप्रदेशाय महर्षिवर्य्यैः।
कृतः प्रयासः पथिजश्रमाणा-
मुपेक्षया जात — विशेषहर्षैः॥

(२)

तपस्यया वर्द्धितविद्यया वा,
सद्धारया वा प्रतिभाप्रभायाः।
नदीत्रयेणेति सहैव यातो,
युते त्रिवेण्या नगरे प्रयागे॥

(३)

सरस्वती नाम नदी विलुप्ता,
विश्रूयते तत्र मतत्रिवेण्याम्।
किन्तु त्रिवेण्यां गणिवर्त्तितायां,
सा दृष्टिमायाति सितस्वरूपा॥

(४)

प्रायः प्रयासं विमलं विधाय,
ससारनाथः स च सारनाथे।
संदर्श्य संसारमपारमेतं,
ज्ञानाङ्कुरान् रोपयति स्म सम्यक्॥

(१)

कानपुर—चातुर्मास की समाप्ति के अनन्तर महर्षिवर आचार्य श्री तुलसी ने मार्ग-श्रम की परवाह न करते हुए बंगाल की ओर प्रस्थान किया।

(२)

तपस्या, अभिवर्द्धित विद्या व प्रभामयी प्रतिभारूपी तीन नदियों के साथ आचार्यवर त्रिवेणी (गंगा, यमुना, सरस्वती) के संगम-स्थल प्रयाग नगर में पहुँचे।

(३)

सुना जाता है कि प्रयागस्थ त्रिवेणी में सरस्वती नामक नदी विलुप्त हो गई है पर गणिवर की त्रिवेणी में विद्या के रूप में उसका उज्ज्वल स्वरूप स्पष्ट दिखाई देता है।

(४)

वहाँ धर्मोद्योत का विशुद्ध प्रयत्न कर वे सार-नाथ—सत्तत्व के स्वामी गणिवर सारनाथ पधारे। वहाँ इस अपार संसार का यथार्थरूप दृष्टिगत करा ज्ञानरूपी अंकुरों का आरोपण किया अर्थात् सद्ज्ञान का उपदेश दिया।

(५)

सारस्वती रसवती सकलेऽपि काले,
रुच्यान् रसान् पचति यत्र गृहे गृहेऽपि।
आभूषिताऽपि कविता कुलकामिनीव,
यत्र प्रणृत्यति नृणां हृदयाङ्गणेषु ॥

(६)

शास्त्रार्थमुत्तम — संस्कृतशब्दसिद्धे-
र्घोषोऽपि घोषति सतां विदुषां समाजे।
काशीपुरीं स्वनगरीं शिवशङ्करस्य,
तामेव साधुसहितो गणभृत्प्रपेदे ॥

(७)

विद्यालयेषु बहुषु प्रकटोत्तमेषु,
नानासभास्वपि महाबुधयोजितासु।
श्रीमद्गणिप्रवचनं मधुरं तदासी-
दश्रौषुरचितमिदं पुरुषाः प्रहर्षात् ॥

(८)

आचार्य एव विदुषां वरपूजितांघ्रिः,
संयोजने विशदसंस्कृतजातगोष्ठ्याः।
सन्देशमेकमददाद् बहुभावपूर्ण,
विद्वन्मनोऽम्बुज—विकासकृतेऽर्कतुल्यः॥

(५-६)

जहाँ रसवती सरस्वती सदैव घर-घर में रसरूपी रुचिकर पदार्थ पकाती रहती है, जहाँ आभरणयुक्त कुलीन नारी की तरह अलंकारयुक्त कविता मनुष्यों के हृदयरूपी आंगन में नृत्य करती रहती है, जहाँ एक गोप भी जटिलतम संस्कृत-शब्दों की सिद्धि के सम्बन्ध में शास्त्रार्थ के लिए विद्वत्समाज को चुनौती देता है, शिव की नगरी उस काशी में गणिवर साधु-साध्वियों सहित पधारे।

(७)

उत्तमोत्तम विद्यालयों में, विद्वानों द्वारा आयोजित अनेक सभाओं में लोगों ने आचार्यवर का मधुर एवं आदेय प्रवचन अत्यन्त हर्ष के साथ सुना।

(८)

विद्वानों द्वारा सम्मानित आचार्यवर ने संस्कृत की एक बृहत् गोष्ठी में अत्यन्त भावपूर्ण सन्देश दिया। ऐसा कर उन्होंने विद्वानों के हृदयों को इस प्रकार विकसित कर दिया, जिस प्रकार सूर्य कमलों को करता है।

(९)

श्रीनत्थमल्लमुनिनोत्तम — संस्कृतेन,
धाराप्रवाहसदृशेन मनोहरेण ।
स्याद्वादवर्त्तिविषये विपुलं न्यगादि,
प्रश्नोत्तराण्यपि सहैव सुपूरितानि ॥

(१०)

विद्वज्जगद् मुनिजनानुपमातिविद्यां,
दृष्ट्वा चमत्कृतिमगाद् गुणिवर्गपूज्यम् ।
काश्यास्ततो गणिवरः पटनामयासीद्,
नानानृभिः कृतजयध्वनिभिः सहैव ॥

(११)

आयोजनं महाभाग — स्तत्र धर्मप्रयोजनम् ।
विधाय विविधं ततः, पुरीं पावापुरीमगात् ॥

(१२)

पुराणे समये यत्र, विद्वांसो बौद्धभिक्षवः ।
अशिक्षयन् महाविद्याः, देशिनो वा विदेशिनः ॥

(१३)

निर्विद्या यत्र नालिन्दाः, नालन्दानामके ततः ।
विश्वविद्यालये प्राप, बौद्धधर्मप्रदीपके ॥

(९)

आचार्यवर के अन्तेवासी मुनि श्री नथमलजी ने धाराप्रवाह, प्रांजल एवं सरस संस्कृत में स्याद्वाद पर विस्तृत भाषण किया। साथ ही साथ उन्होंने तत्सम्बन्धी प्रश्नों का उत्तर भी दिया।

(१०)

गुणियों द्वारा सत्कृत विद्वद्वृन्द, मुनियों की अनुपम, उत्कृष्ट विद्या देख चकित हो गये तदनन्तर आचार्यवर काशी से प्रस्थान कर अनेक लोगों द्वारा किये जाते जय-घोष के साथ पटना आये।

(११)

वहाँ आयोजित धार्मिक कार्यक्रमों में उपदेश कर आचार्यवर पावापुरी पधारे।

(१२-१३)

प्राचीन काल में जहाँ विद्वान् बौद्ध भिक्षु देश और विदेश के अध्ययनार्थियों को शिक्षण देते थे, जहाँ अलिन्द—घर का एक कोना भी विद्याशून्य नहीं था, बौद्ध-धर्म की दीप्ति—ज्योति लानेवाला विश्व-विद्यालय जहाँ था, उस नालन्दा नामक स्थान में आचार्यवर पधारे।

(१४)

महाविहारनिर्देश — कर्त्ता वा डाइरेक्टरः ।
मुखोपाध्यायसंयुक्तः, सत्कौड़ीडाक्टरो महान् ॥

(१५)

श्रीमतो गणिवर्यस्य, स्वागतं कृतवान् बहु ।
आंग्लसंस्कृतपालीषु, व्यतानीदभिनन्दनम् ॥

(१६)

ततो राजगृहे जैन — संस्कृतेः संसदः स्थले ।
व्याख्याय स्मारयामास, भूतपूर्व जिनोद्गमम् ॥

(१७)

ततो गत्वा नवादां स, भाषणैः सकलान् जनान् ।
साधुसाध्वीसमेतः स, सर्वशः समतोषयत् ॥

(१४-१५)

वहाँ (बिहार राज्य द्वारा स्थापित) नव नालन्दा महाविहार के निर्देशक (डाइरेक्टर) प्रौढ़ विद्वान् डा० सतकरि मुखोपाध्याय ने आचार्यवर का हार्दिक स्वागत किया। अंग्रेजी, संस्कृत और पाली-भाषा में अभिनन्दन-पत्र समर्पित किये।

(१६)

उसके पश्चात् आचार्यवर राजगृह पधारे। वहाँ जैन-संस्कृति-सम्मेलन में प्रवचन किया तथा सबको अतीतकालीन जैन-संस्कृति का स्मरण कराया।

(१७)

वहाँ से वे साधु-साध्वियों सहित नवादा पधारे, अपने प्रवचनों से सबको परितुष्ट किया।

(१८)

आसीष्ट त्रिशला माता, शल्यत्रय-विनाशकम् ।
यत्र देवं महावीरं, क्षत्रियादिसुशोभिते ॥

(१९)

नाम्ना कुण्डपुरे ख्याते, तत्र यातो गणीश्वरः ।
जसीडीहं ततोऽयासीत्, वैद्यनाथादिधामकम् ॥

(२०)

ततः संपत्ति—संयुक्तं, कर्त्तुं माघमहोत्सवम् ।
सैन्थियानगरं प्राप्तो, भूरिलोकैः कृतार्चनः ॥

(२१)

तत्रत्यैः पुरुषैः शिष्टै-र्हार्दिकं स्वागतं कृतम् ।
श्रीमतो गणिराजस्य, निःस्वार्थं भ्रमतो भुवि ॥

(२२)

श्रीमिहिरादि-लालोऽथ, चट्टोपाध्यायसंज्ञकः ।
विशिष्टाणुव्रती धीमान्, सदस्यो विधिसंसदः॥

(२३)

अणुव्रतप्रसाराय, ददौ योगं महोत्तमम् ।
उत्सवो माघमासस्य, सानन्दं स समाप्तवान् ॥

(१८-१६)

जहाँ माता त्रिशला ने तीनों शल्यों—दुःखों (आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक) का विनाश करनेवाले श्री महावीर को जन्म दिया, आचार्यवर उस क्षत्रिय कुण्डपुर नामक स्थान में पधारे। वहाँ से जसीडीह और वैद्यनाथ धाम आये।

(२०)

अनेक लोगों द्वारा सम्पूजित गणिवर वहाँ से विहार कर मर्यादा-महोत्सव करने के लिए ऋद्धिशाली सैन्थिया नामक शहर में पधारे।

(२१)

निःस्वार्थ भावना लिए जगत् में पर्यटन करते आचार्यवर का वहाँ के लोगों ने हार्दिक स्वागत किया।

(२२-२३)

बंगाल-विधानसभा के सदस्य, विशिष्ट अणुव्रती, मतिमान् श्री मिहिरलाल चट्टोपाध्याय ने अणुव्रत-भावना के प्रसार में वहाँ बहुत बड़ा सहयोग किया।

(२४)

व्यापारकार्याय यदीय — निर्मिति-
र्व्यधायि गौरैर्निपुणैः स्वपाणिभिः।
मूले यदीये निजदेश-संस्कृतिः,
संकुच्य संकुच्य पदे पदे भृता॥

(२५)

भाषां वदन्तोऽपि यदीयमानवाः,
विस्मृत्य मातुश्च पितुश्च संज्ञिकाम्।
प्रयुञ्जते दी मदरं च फादरम्,
कुर्वन्ति भाषा — सरितं मलीमसाम्॥

(२६)

पतिव्रतां पावनधर्मधारिणीं,
चन्द्राननां स्त्रीमतिमञ्जुभाषिणीम्।
विहाय हा यत्र युवाऽपि चञ्चलां,
यूरोपलेडीं मनुतेऽमराङ्गनाम्॥

(२७)

कर्षन्ति केशान् सकला जना मम,
नाहर्निशं कश्चन मां विमुञ्चति।
सरस्वति! त्वां विरलो विबाधते,
यत्र ब्रुवाणा कमलेति शोभते॥

(२८)

स्वयं कृता या वर — विश्वकर्मणा,
रोपैः पदार्थैः सुरलोकनिर्मितैः।
अनाद्यनन्तां कलिकातिकापुरीं,
तां जग्मिवान् साधुसतीमणी गणी॥

(२४-२८)

अंग्रेजों ने व्यापारिक उद्देश्य लिए अपने हाथों से जिसका निर्माण किया, जिसके मूल में पद-पद पर अपने देश की संस्कृति को कूट-कूट कर भरा, जहाँ के लोग अपनी भाषा बोलते हुए भी माता और पिता शब्दों को तो मानो भूल ही गये हैं अतएव उनके स्थान पर जो मदर (Mother) और फादर (Father) शब्दों का प्रयोग करते हुए भाषारूपी सरिता को मलिन बना रहे हैं, जहाँ युवक पतिव्रता, धर्मपरायणा, चन्द्रमुखी व मधुरभाषिणी स्त्री को छोड़ चांचल्यमयी यूरोपियन लेडी को देवाङ्गना मानता है, जहाँ लक्ष्मी सरस्वती को यों कहती शोभा पाती है—"सभी लोग मेरे ही बालों को खींचते हैं, रात-दिन मेरा कोई पीछा नहीं छोड़ता, तुम्हें तो कोई विरला ही बाधा देता है", जिसे स्वर्ग के निर्माण के पश्चात् अवशिष्ट रहे पदार्थों से मानो स्वयं विश्वकर्मा ने बनाया, जिसका आदि-अन्त—ओर-छोर कुछ भी दीखता नहीं—उस कलकत्ता महानगरी में साधु-साध्वियों के शिरोमणि आचार्यवर पधारे।

(२९)

प्राप्तं चतुर्मासकृते मुनीश्वरं,
द्रष्टुं समुत्का जनता समागमत् ।
नश्यन्ति सद्दर्शनतस्तपोभृतां,
पापानि सर्वाणि चिरार्जितान्यपि ॥

(३०)

सर्वोच्च — न्यायालयनाथः,
एस्० आर्० दासः समुपायातः ।
नाना — नरनारी — संपूर्णे,
मैत्र्यदिने बुधवृन्दैर्विहिते ॥

(३१)

कृत्वा केचिद् हृदये क्रोधं,
कृतवन्तः संगठित — विरोधम् ।
जातो तेभ्यः काऽपि न हानिः,
शान्तिरनन्या गणिनाऽतानि ॥

(३२)

अणुव्रतानि मानवाः, नवानि मानसे दधुः ।
व्यधुः स्वकीयशोधनं, धनं तृणाय मेनिरे ॥

(२६)

श्रमणपति चातुर्मासिक प्रवास करने के निमित्त पधारे हैं, यह जान जनता उत्सुकता लिए उनके दर्शन के लिए आने लगी। तपस्वियों के दर्शन से चिरकाल-अर्जित पाप भी नष्ट हो जाते हैं।

(३०)

वहाँ विज्ञ जनों द्वारा समायोजित मैत्री-दिवस के आयोजन में भारत के सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश श्री एस० आर० दास महोदय ने भाग लिया। भिन्न-भिन्न जाति, वर्ग व वर्ण के नर-नारी उस समारोह में बड़ी संख्या में उपस्थित थे।

(३१)

कलकत्ता-प्रवास में कुछ-एक लोगों ने (ईर्ष्यावश) मन में कुपित हो, संगठित रूप में विरोध भी किया। पर वे कुछ बिगाड़ नहीं सके। आचार्यवर ने उस प्रसंग में अप्रतिम शान्ति का उदाहरण प्रस्तुत किया।

(३२)

लोगों ने अभिनव अणुव्रत-नियम मन में धारण किये, आत्मा का परिशोधन किया, धन को तृण के समान माना।

(३३)

महामना तपोनिधि—र्व्रतक्रियां यथाविधि।
विहारमाश्रयत्ततः, प्रचारयन् समन्ततः ॥

(३४)

विलोकयन् पर्वत — पार्श्वनाथं,
कुर्वन् समूहं विदुषां सनाथम्।
गयां गतो बौद्धगयां ततः सः,
जनानवादीत् शुभधर्ममार्गम् ॥

(३५)

वाराणसीं प्राप्य ततः प्रयागं,
समागमत् कानपुरं मनस्वी।
ततो विहारं परितो वितन्वन्,
अलीगढं प्राप महानुभावः ॥

(३६)

निशम्य वृत्तं मुनि — मग्नमन्त्रि-
स्वः - प्रस्थितेस्तत्र गणस्य नाथः।
ध्यानस्थितोऽभूत्सह साधु — वर्यै-
र्लोकैः कृता शोकसभा विशाला ॥

(३३)

महान् मनस्वी, तपोनिधि आचार्यवर ने व्रतचर्या—संयम-भावना का व्यवस्थित रूप में चारों ओर प्रसार करते हुए वहाँ से विहार किया।

(३४)

आचार्यवर मार्गानुक्रम के बीच पार्श्वनाथ-पर्वत पर पधार, उस ऐतिहासिक स्थल को देखते हुए, विद्वत्समूह को आह्लादित करते हुए बौद्ध गया और गया पधारे। जन-समुदाय को धर्म का पवित्र मार्ग बतलाया।

(३५)

वहाँ से वाराणसी, प्रयाग, कानपुर आदि में प्रवास करते हुए मनस्वी गणिवर अलीगढ़ पहुँचे।

(३६)

उन्होंने सुना, मन्त्रिवर श्री मगन मुनि का स्वर्गवास हो गया है तो वे सब साधु-साध्वियों के साथ ध्यान-स्थित हो गये। लोगों ने विशाल शोक-सभा की।

(३७)

दिल्लीं ततः प्राप्य चकार चर्चां,
श्रीराष्ट्र — भर्त्रा करुणार्णवेन।
प्रधान — मन्त्रित्व — मुपागतेन,
विवेकिना नेहरुणाऽपि सार्धं॥

(३८)

आयोजनानां बहुतां शुभानां,
विधाय तत्राऽपि गुणी गणीन्द्रः।
कर्त्तुं विधिं माघ — महोत्सवस्य,
हांसीनगर्यां विरराज धीमान्॥

(३६)

तपस्विवर्यः सुखलालसाधुः,
स्वर्गं यियासुर्मुनिवर्य — वन्द्यः।
मम प्रतीक्षां कुरुते चिरेण,
नोपेक्षणीयः स मया कदापि॥

(४०)

विचार्य चेत्थं सरदारपुर्यां,
ततो गतस्तत् — समयावसाने।
आतिथ्यमङ्गीकुरुते स्म शच्याः,
कृत्वा गुरूणां स च दर्शनानि॥

(३७)

वहाँ से दिल्ली पधारे। वहाँ करुणा के उदधि राष्ट्रपति महोदय तथा विवेकशाली प्रधान मन्त्री श्री नेहरू के साथ विचार-विमर्श किया।

(३८)

वहाँ अनेक आयोजनों में उपदेश कर गुणशाली, मतिमान् गणीन्द्र मर्यादा-महोत्सव करने के लिए हांसी पधारे और वहाँ ठहरे।

(३९-४०)

मुनियों द्वारा वन्द्य तपस्विवर्य मुनि श्री सुखलालजी (जो अपने पूर्व निश्चयानुसार आमरण अनशन किये हुए थे) स्वर्ग जानेवाले हैं, वे चिरकाल से मेरी प्रतीक्षा कर रहे हैं, यों सोच आचार्यवर उनके अन्त्यकाल में उनके पास सरदारशहर पहुँच गये। गुरुवर्य के दर्शनकर मुनि श्री सुखलालजी स्वर्गवासी हुए और वहाँ इन्द्राणी का आतिथ्य स्वीकार किया।

(४१)

सर्वान् जनान् वाग्मिवरः स्वकीयैः,
सन्तोष्य सम्यङ् मधुरैर्वचोभिः।
विज्ञाप्य धर्मोत्तम — सर्वमर्म,
ततो विहारं कृतवान् स्वतन्त्रः ॥

गणिवर ने अपने मधुर वचनों से सबको सन्तुष्ट कर, धर्म का उत्कृष्ट मर्म समझा, वहाँ से यथेच्छ विहार किया।

ओम्

अथ पंचविंशत्सर्गः

(१)

अथो समर्थोऽखिलपापनाशने,
आचार्यवर्यस्तुलसी — मुनीश्वरः ।
मार्ग महापांशुमयं शिलाकणै-
स्तीक्ष्णाग्रभागैरपि पूरितं तरन् ॥

(२)

पुरीमयासीद् बगड़ीति सज्जन-
पुराह्वयां सज्जनवृन्दशोभिताम् ।
आचार्य — भिक्षोरभिनिष्क्रमोत्सव-
स्तत्राभवल्लोकसमूह — वेष्टितः ॥

(३)

श्रीवर्द्धमानोद्भव — शुद्धपद्धतिं,
प्रायः कृतां कण्टकितां जनाधमैः ।
कण्टालिया मार्जयितुं नरोत्तमं,
प्रासोष्ट या तेरहपन्थनायकम् ॥

(४)

पितामहानामपि मातरं तत-
स्तामेव यातस्तुलसीगणीश्वरः ।
पांशौ तदीये मुनिभिक्षुकृत्कणान्,
विशेषदृष्ट्या मुनिपोऽनुसंदधौ ॥

(१-२)

पाप का ध्वंस करने में परम समर्थ, श्रमणाधिपति आचार्य श्री तुलसी बालू से भरे तथा तीखे कंकड़ों से परिपूरित मार्ग को पार करते हुए, बगड़ीसज्जनपुर नामक स्थान में पधारे, जो सज्जनों से परिपूरित है। वहाँ उनके सान्निध्य में आचार्य-भिक्षु-अभिनिष्क्रमण-समारोह का आयोजन हुआ, जिसमें लोग बड़ी संख्या में उपस्थित थे।

(३-४)

जिसने भगवान् महावीर द्वारा प्ररूपित धर्म का शुद्ध मार्ग, जिसे स्वार्थी लोगों ने कण्टकित बना दिया था, का सम्मार्जन करने के लिए तेरापन्थ के आद्य प्रवर्तक आचार्य भिक्षु को उत्पन्न किया, अपने पूर्व पुरुषों की जन्मभूमि उस कंटालिया गाँव में आचार्यवर पधारे और उसकी धूलि में वे विशेष रूप से उन कणों को ढूंढने लगे, जिन्होंने आचार्य भिक्षु का निर्माण किया था।

(५)

ततोऽगमत् तत्सिरियारिपत्तनं,
भिक्षोरभूद्यत्र दिवोऽधिरोहणम् ।
पुरान्तिमं राणकनामकं ततः,
सर्वत्र धर्मध्वनिमेव वादयन् ॥

(६)

राणाप्रतापस्य महाबलीयसो,
धर्मध्वजा — रक्षणकर्तृकस्य च ।
ततः स्वदेशे शुभमेदपाटके,
प्राप्तः प्रवेशं गुणिमानितो गणी ॥

(७)

धृत्वा धनुर्बाणमतिप्रमाणतो,
ये रामपौलस्त्यमहाहवस्मृतिम् ।
संपादयन्ति स्वकदेशरक्षका-
स्तद्भिल्लकानां भुवमाविशन्मुनिः ॥

(८)

कृत्वां कृपां पूर्णतयाऽदिवासिषु,
धर्मप्रचारो विहितस्तदिच्छया ।
तद्भाषया सर्वविदा मनस्विना,
पादेषु पेतुर्वनवासिनो जनाः ॥

(५)

वहाँ से आचार्यवर सिरियारी पधारे, जहाँ आचार्य भिक्षु का स्वर्गवास हुआ था। सर्वत्र धर्म का घोष मुखरित करते हुए वहाँ से वे राणकपुर गये।

(६)

गुणिजन द्वारा सम्मानित आचार्यवर तत्पश्चात् धर्म-ध्वज की रक्षा करने वाले महापराक्रमी महाराणा प्रताप के देश मेवाड़ में पधारे।

(७)

अपने देश के रक्षक भील जहाँ बड़े-बड़े धनुष-बाण धारण करते हुए राम और रावण के युद्ध की स्मृति करा देते हैं (राम-रावण-युद्ध में अस्त्र के रूप में विशेषतः धनुप-बाण का ही प्रयोग हुआ था)। उन भीलों की आवास-भूमि में आचार्यवर पधारे।

(८)

मनस्विमूर्द्धन्य आचार्यवर ने आदिवासियों पर पूर्ण कृपाकर उनकी रुचि और भाषा के अनुरूप उनमें धर्म-प्रसार किया। वे वनवासी—आदिवासी आचार्यवर के चरणों में गिर पड़े।

(९)

ततः प्रसिद्धं गढकुम्भलाह्वयं,
दुर्गं महादुर्गममाप्तवान्द्रुतम् ।
अनीक्षमाणः स्रुतरक्तबिन्दुकान्,
मार्गे मिलच्छैलकणाहतात्पदात् ॥

(१०)

द्विशताब्दी — समारोहं,
कर्त्तुं भिक्षुमनीषिणः ।
साधुसाध्वी— समायुक्तः,
केलवां स समाययौ ॥

(११)

अर्द्धलक्ष — मनुष्याणा-
मद्भुताया—मुपस्थितौ ।
आगतानां चतुर्दिग्भ्यो,
दूरतो वा समीपतः ॥

(१२)

आचार्यः शिरसा धार्यः,
समेतः सर्वसाधुभिः ।
विरराज निजें लोके,
देवैरिव शतक्रतुः ॥

(९)

तब द्रुतगति से आचार्यवर अत्यन्त दुर्गम (जहाँ बड़े कष्ट से जाया जा सकता है) सुप्रसिद्ध कुम्भलगढ़ नामक किले में पधारे। मार्ग में मिले पत्थर के कणों द्वारा छिले पैरों से रक्त की बूंदें चू पड़ीं पर उन्होंने इसकी कोई परवाह नहीं की।

(१०)

मनीषिप्रवर श्री भिक्षुगणी के द्विशताब्दी-समारोह के लिए आचार्यवर साधु-साध्वियों सहित केलवा पधारें।

(११-१२)

निकटवर्ती और दूरवर्ती स्थानों से आए हुए लगभग पचास हजार नर-नारियों की उपस्थिति में वन्दनीय आचार्यवर सब साधु-साध्वियों सहित इस प्रकार शोभित हो रहे थे, जिस प्रकार देवराज इन्द्र अपने लोक में देवताओं के साथ होता है।

(१३)

भिक्षोः सजीवमूर्त्यैव,
केवलं स्मरणेन च।
उत्साहो नरनारीषु,
स्वयमेव विवर्द्धितः ॥

(१४)

भारतस्थित — सर्वोच्च-
न्यायाधीश— महोदयः।
वी. पी. सिंहाह्वयो धीमान्,
तत्र प्रेम्णा समागतः ॥

(१५)

राजस्थानस्य राज्यस्य,
मुख्यमंत्री सुखाड़िया।
सुखपूर्वं समायातः,
श्रद्धाभाव—समन्वितः ॥

(१६)

सोऽपि तद्गतसम्बन्धे,
बभाषे मृदुभाषया।
असंख्यजनता शान्त्या,
पूर्ण — रूपाच्चमत्कृता ॥

(१३)

लोगों में इस प्रकार उत्साह बढ़ा जा रहा था, मानो स्मरण मात्र से वहाँ वातावरण में सर्वत्र भिक्षु की सजीव मूर्ति व्याप्त हो गई हो।

(१४)

भारत के सर्वोच्च न्यायालय के प्रधान न्यायाधीश, मतिमान् श्री बी० पी सिंह उस आयोजन में बड़े प्रेम से सम्मिलित हुए (समारोह का उद्घाटन किया)।

(१५)

राजस्थान के मुख्यमंत्री श्री मोहनलालाजी सुखाड़िया श्रद्धा व भक्ति लिए बड़े हर्ष के साथ उक्त आयोजन में उपस्थित हुए।

(१६)

उन्होंने भी आचार्य श्री भिक्षु के सम्बन्ध में मधुर शब्दों में प्रकाश डाला। शान्तभाव से स्थित असंख्य जनता पर उसका (उनके भाषाण का) अच्छा प्रभाव हुआ।

(१७)

बद्धहस्ताः समक्षाक्षाः,
मनुष्याश्चातका इव।
वारिदाचार्यतो वृष्टं,
संपपु — र्भाषणामृतम् ॥

(१८)

विना राजप्रबन्धेन,
मनुष्या बहुसंख्यकाः।
आचार्यस्य पदाम्भोज-
भक्तिभाव—नियन्त्रिताः॥

(१९)

उत्तिष्ठन्ति च तिष्ठन्ति,
निषीदन्ति चलन्ति च।
विना कोलाहलं तत्र,
कार्ये विघ्नविधायकम् ॥

(२०)

समीपस्थो ततो राज-
समन्दं स समागतः।
चतुर्मासविधिं कर्तुं,
समारोह — समन्वितः ॥

(१७)

हाथ जोड़े, सामने बैठे मनुष्यरूपी चातकों ने आचार्यवर रूपी मेघ द्वारा बरसाये गये वचनरूपी अमृत का पान किया।

(१८-१९)

आचार्यवर के चरण-कमलों की भक्ति ही मानो वह नियंत्रण था, जिससे अनुशासित लोग विना किसी राजकीय प्रबन्ध के स्वयं उठते थे, खड़े होते थे, वैठते थे, चलते थे। कोलाहल, जिससे कार्य में विघ्न होता है, का वहाँ लव-लेश भी नहीं था।

(२०)

शान्तभाव से स्थित ग्चार्यवर चातुर्मासिक प्रवास के लिए केलवा के समीप-स्थित प्रभाव हुआ। गहर में विशाल जन-समुदाय के साथ पधारे।

(२१)

आयोजनस्य शिष्टानि,
कार्याणि सकलान्यपि ।
तत्र संपूरयामास,
सर्वाज्ञान — विनाशकः ॥

(२२)

अध्यात्म — स्रोतसस्तत्र,
ज्ञाननद्यः प्रभाविताः ।
मनुष्यान् निर्मलीकर्तुं,
सर्वेशो मुनिपुङ्गवैः ॥

(२३)

द्विशताब्दी — समारोह-
द्वितीयचरणं ततः ।
पूर्णशः पूर्त्तिमायातं,
गणीश — कल्याणवशात् ॥

(२४)

बाबू — जयप्रकाशोऽपि,
सर्वोदय — विदांवरः ।
तत्रागतो महाभागो,
देशोन्नति — समुत्सुकः ॥

(२१)

समग्र अज्ञान के विच्छेत्ता गणिवर के सांन्निध्य में वहाँ द्विशताब्दी-समारोह के सभी अवशिष्ट कार्यक्रम सम्पन्न हुए।

(२२)

मुनि-पुंगव ने मानव-समुदाय को सर्वथा निर्मल बनाने के लिए अध्यात्म-रूपी स्रोत से वहाँ ज्ञानमयी सरिताएँ प्रवाहित कीं।

(२३)

वहाँ आचार्यवर के अनुग्रह से द्विशताब्दी-समारोह का द्वितीय-चरण सम्पूर्णरूपेण सम्पन्न हुआ।

२४)

सर्वोदयी नेता, देश को उन्नत करने की भावना रखने वाले श्री जयप्रकाश बाबू उसमें सम्मिलित हुए।

(२५)

उद्घाटनं तदा तत्र,
कृतं तेन मनस्विना।
भाषणं कृतवान् स्वीयं,
सर्वप्रिय — सुधामयम् ॥

(२६)

जाताः परिषदो नाना,
दृष्ट—दर्शनशास्त्रिणाम् ।
साहित्यज्ञ — कवीन्द्राणां,
शिक्षाज्ञानां च धीमताम् ॥

(२७)

एकादशतमं रम्यं,
विस्तृतं चाधिवेशनम्।
अणुव्रतानां संजात-
माचार्येण नियन्त्रितम् ॥

(२८)

उद्घाटनं च तस्येति,
केन्द्रस्थै—र्गृहमन्त्रिभिः।
वी० एनाभिधदातारैः,
कृतं शान्तिविधायकम् ॥

(२५)

मनस्वी श्री जयप्रकाश बाबू ने द्वितीय चरण का उद्घाटन किया। उन्होंने जो भाषण किया, वह अमृत तुल्य था, सबको बड़ा प्रिय लगा।

(२६)

मेधाशील दर्शन-शास्त्रियों, साहित्य-वेत्ताओं, कवियों तथा शिक्षा-शास्त्रियों की अनेक परिषदें वहाँ आचार्यप्रवर के सान्निध्य में द्वितीय चरण के अन्तर्गत आयोजित हुईं।

(२७)

आचार्यवर के सान्निध्य में वहाँ अणुव्रत आन्दोलन के ग्यारहवाँ अधिवेशन का भी आयोजित हुआ।

(२८)

अधिवेशन का उद्घाटन केन्द्रीय गृहमन्त्रालय के गृहकार्यमंत्री श्री बी० एन० दातार ने किया।

(२६)

सहस्र — संख्याधिकतामुपेतै-
र्लोकैः स्वतः सत्वगुणोपविष्टैः।
अणुव्रताना — मधिधारणेन,
चमत्कृतं सर्वजगद् व्यधायि॥

(३०)

साहित्यसंयोजित — पुस्तकानां,
प्रकाशनस्याद्भुत — भूरिकार्यम्।
जातं प्रयत्नादुरकार्यभाजां,
सुधर्म्मिणां बुद्धिमतां जनानाम्॥

(३१)

विधाय सर्वत्र नितान्तशान्तिं,
मनांसि पुंसामपहृत्य धीमान्।
शोक — स्रवन्मानवनेत्र — नीर-
निषिक्तमार्गेण ततो व्यहार्षीद्॥

(३२)

वर्त्मान्तरालेऽपि विरम्य किञ्चि-
च्छ्रद्धावतां ज्ञानपिपासितानाम्।
ददौ गणीशो व्रतवारिबिन्दून्,
विनाऽपि वर्षन्तु मिवाम्बुवाहः॥

(२९)

सात्त्विक-गुण-उपपन्न एक सहस्र से अधिक उपस्थित व्यक्तियों ने अणुव्रत-नियम स्वीकार किये। लोग यह देख आश्चर्यान्वित थे।

(३०)

इस अवसर पर धर्मानुरागी, बुद्धिमान् कार्यकर्ताओं के प्रयत्न से साहित्य-प्रकाशन के रूप में बड़ा अद्भुत एवं महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ।

(३१)

सर्वत्र शान्ति स्थापित करते हुए, लोगों को आकर्षित करते हुए आचार्यवर ने उस पथ से विहार किया, जो (उनके प्रस्थान-जनित दुःख के कारण) लोगों के शोक से ढलकते आँसुओं से सिंच गया था।

(३२)

आचार्यवर ने स्थान-स्थान पर मार्ग में भी कुछ-कुछ रुक कर श्रद्धालु जिज्ञासुओं को व्रत प्रदान किये, मानो बिना वर्षा-ऋतु के भी मेघ जल की बूंदें गिरा रहा हो।

(३३)

विरोधिनां चेतसि भूरिदुःख-
मुत्पादयन्नेष गणेशवर्यः ।
चौरस्य वित्तात्यपहारकस्य,
क्लेशं क्लेशं ददतं जिगाय ॥

(३४)

ततो विहारं तमसोऽपहृत्यै,
व्याप्तस्य पुंसामथ मानवेषु ।
कुर्वश्चतुर्मास — विशेषवासं,
मरुस्थले कर्त्तुमना बभूव ॥

(३५)

धर्मानुरागि — प्रमुखैर्मनुष्यै-
र्ज्ञानामृतं पातुमुपेयिवद्भिः ।
अभ्यर्थितः शान्तिविधायकाग्र्यो,
बीदासरं पूज्यवरः प्रपेदे ॥

(३६)

पंचविंशत्तमे वर्षे,
चतुर्मास — विधिर्वरः ।
श्रीमतो गणिवर्यस्य,
जातो बीदासरे पुरे ॥

(३३)

विरोधियों के चित्त में विपुल दुःख-उत्पन्न कर गणिवर ने द्रव्यापहारी चोर को कष्ट देने वाले चन्द्रमा को भी जीत लिया। अर्थात् चोरों के लिए चाँदनी रात अप्रिय होती है क्योंकि उसमें उनके पकड़े जाने का भय रहता है। इस अपेक्षा से वे चन्द्रमा को अपने लिए कष्टकर मानते हैं। कष्टकरत्व की विशेषता में भी आचार्यवर चन्द्रमा से कम नहीं हैं, कहीं अधिक हैं। क्योंकि विरोधी उनसे भी अपने को बहुत कष्टान्वित समझते हैं।

(३४)

लोगों के मन में व्याप्त अज्ञानरूपी अन्धकार को हरने का अभिप्रेत लिए पर्यटन करते हुए आचार्यवर ने अपना अग्रिम चातुर्मासिक प्रवास मरुस्थल में करने का मन किया।

(३५)

शान्ति-स्रष्टाओं में अग्रगण्य आचार्यवर ज्ञानरूपी अमृत पीने के लिए उत्सुक धर्मानुरागी लोगों की प्रार्थना पर बीदासर पधारे।

(३६)

आचार्यवर के (आचार्यत्व-काल के) पच्चीसवें वर्ष का महत्त्वपूर्ण चातुर्मास बीदासर में हुआ।

(३७)

तेरापन्थे समर्थे बहुलमुनिजनैः श्रावकैश्चातिसंख्यैः,
शान्त्याऽऽसीनो यशस्वी नवमपदगते साधुसंघाधिपत्वे ।
अद्यावध्येप धीमान् मुनिपतितुलसीः पंचविंशत्कवर्षान्,
स्वीयान् शुभ्रान् प्रजातान् व्रतरतचरितैर्यापयामास सार्थान् ॥

(३८)

तद्योगाज्जायमानो सुम इव धवले तत्समारोहवर्य्ये,
एतत्काव्यं कवियों झटिति विरचितं पंचविंशत्कसर्गैः ।
भक्तेर्भाव — प्रभावादुपहरतितरां पूज्य — पादाम्बुजेभ्यः,
सोऽयं कश्चिन्नवीनो न भवति मधुपः पातुमर्हो मरन्दम् ॥

(३९)

अलीगढान्तःस्थ — सुनामईस्थ-
वैद्येन नाम्ना रघुनन्दनेन ।
विनिर्मितं काव्यमिदं शुभाय,
भूयात् सदा सज्जनपाठकानाम् ॥

(४०)

अल्प — ज्ञानां मनुष्याणा-
मापतत्सु स्वभावतः ।
दूषणेषु समाधि — स्थाः,
भवन्तु करुणार्णवाः ॥

---

(३७)

तेरापंथ, जो अनेक साधु-साध्वियों तथा असंख्य श्रावक-श्राविकाओं से समृद्ध है, के नवम अधिनायक पद पर शान्त भाव से संस्थित, कीर्तिशाली, मतिमण्डित आचार्यवर ने अपने शासन-काल के उज्ज्वल पच्चीस वर्ष महाव्रत-मय चारित्र्याराधना के साथ अत्यन्त सार्थक रूप में सम्पन्न किये हैं।

(३८)

आचार्यत्व-काल के उन यशस्वी, सफल पच्चीस वर्षों की सम्पन्नता के उपलक्ष्य में आयोजित, कुसुम की तरह उज्ज्वल धवल समारोह के अवसर पर कवि, जो कोई अभिनव, मकरन्दपायी मधुकर नहीं है (बल्कि अनुभूतिपूर्ण, लम्बी कवित्व साधना का स्वामी है), अपने द्वारा अत्यन्त शीघ्रता से रचित पच्चीस सर्गों से युक्त यह महाकाव्य भक्ति-भावपूर्वक पूज्यपाद आचार्यवर के चरण-कमलों में अर्पित करता है।

(३९)

अलीगढ़ जिले के अन्तर्गत सुनामई नामक गाँव के निवासी वैद्य श्री रघुनन्दन शर्म्मा द्वारा इस काव्य का प्रणयन हुआ है। यह सहृदय पाठकों के श्रेयस् के लिए हो।

(४०)

अल्पज्ञ मनुष्यों की कृतियों में स्वभाव से ही दोष आ जाते हैं, अतः करुणाशील सज्जन उनमें समाधिस्थ रहें।

शुद्धाशुद्धि पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१०	३	वित्तवत्तां	वित्तवतां
१८	३	विहृत	विहित
५८	६	विकुक्कायित	विवुक्कायित
१०२	५	देशनामे	देशनाभे
१०८	७	गरिमां	गरिमा
११०	८	नाऽऽचार्यस्य	नाचार्यस्य
११२	३	श्रेप्ठे	श्रेष्ठे
१३०	१३	रुज्वलं	रुज्ज्वलां
१४०	२	निरैसिपि	निरैक्षिपि
१८६	८	शल्यमेव	शल्ययेव
२१६	८	धैर्यशालो	धैर्यशाली
२२०	६	एकान्त	मेकान्त
२२१	१	ये	मेरी
२३८	६	कालु	काल्ढ
२६६	६	जव	जो
२७८	८	इवार्तितो	इवार्पितो
२८६	५	अधीय	अधीत्य
२६०	८	तेंऽभापु	तेऽभापुं
३०२	१२	पग्रहे	वग्रहे
३०४	४	व्यधितप्रकृष्टम्	व्यधित प्रकृष्टम्
३१२	७	स्तुतेन	स्तुतेन
३१२	१३	आशिक्षितान्	अशिक्षितान्
३१६	७	मिवद्रि	मिवाद्रि
३१८	?	उपास्यमाने	उपास्यमानो
३२२	१४	जनानां	जिनानां
३२८	१५	प्राप्याप्य मूल्यानि	प्राप्याप्यमूल्यानि

३३०	२	पुरोचनं	पुरोत्तमं
३३१	६	व्रत	ब्रह्मचर्यव्रत
३४८	४	देश	दंश
३५८	३	रघुना	रधुना
३५६	८	जनों	चर्मों
३६६	१५	लैन	लैं
३६८	४	अनुवदन्	अनुवदन्
३७०	६	श्रममतिः	श्रममति
३७२	१	प्रह्ष्ट	प्रदृष्ट
३६४	१३	उपर्युपां	उपर्युपां
३६६	४	कलशं	कलहं
४००	२	साघूल	सधूम
४०६	६	वोवित	वेवित
४०८	६	पूर्वकम्	पूर्वम्
४४६	१४	सहस्त्रै	सहस्रै
५०८	१२	वाऽग्युप	वाऽप्युप